

प्रिंसिपल के लिए



शंकर मुसाफिर

हिन्दी अनुवाद : अरविन्द गुप्ता

चित्र : रूस्तम वानिया



भारत के क्रांतिकारी शिक्षकों को समर्पित

प्रस्तावना

समाज बहुत तेज़ी से बदल रहा है पर स्कूलों में अभी भी कोई परिवर्तन नज़र नहीं आता. शिक्षा के क्षेत्र में होने के कारण हम इस सच्चाई को अच्छी तरह समझते हैं. स्कूल जड़ता और परंपरा के गढ़ बन गए हैं. मज़े की बात यह है - हमें इस बात पर गर्व है!

इस उदास स्थिति में शंकर मुसाफिर की पुस्तक स्कूलों की पुनर्रचना के लिए एक जादुई मंत्र लेकर आयी है. वो मेरे प्रिय गुरु केन रोबिनसन के विचारों का उल्लेख करते हैं. केन रोबिनसन के अनुसार - स्कूलों में पुनर्गठन और शिक्षा में क्रांति, मौसम बदलाव जितनी ही महत्वपूर्ण घटना है.

इसलिए पुस्तक *प्रिंसिपल के लिए .. आपका स्नेही* का हार्दिक स्वागत है. पुस्तक नए-नए विचारों का खज़ाना है. इसके अनुभव सीखनेवाले के परिवेश और सन्दर्भ से जुड़े हैं - बारिश के पानी का दोहन, ऊर्जा संरक्षण, औषधि पौधों के बाग, कबाड़ से जुगाड़ वाले कमरे आदि.

शंकर अपना ध्यान बच्चों पर केन्द्रित करते हैं. बच्चे न होते तो शिक्षक भी न होते. बच्चों के कारण ही तो शिक्षक हैं. पर जब स्कूल कैलेंडर पर आयोजनों और समारोहों का विवरण लिखा जाता है तब हम बच्चों को बिलकुल भूल

जाते हैं. शंकर स्कूल की हर गतिविधि की समीक्षा करने पर हमें मजबूर करते हैं. स्कूल में वार्षिकोत्सव मनाने के तत्परता पर मुझे विशेषतौर पर हंसी आती है. वार्षिकोत्सव किसके लिए मनाया जाता है? निश्चित रूप से बच्चों के लिए तो नहीं! मैं “कुइज़िज़्जिंग” या प्रश्न-उत्तर की स्पर्धाओं पर भी शंकर के विचारों की सराहना करती हूँ. बेकार के तथ्यों को, जिन्हें गूगल पर आसानी से जाना जा सकता है को रटने के पीछे हम न जाने क्यों पड़े रहते हैं?

शंकर स्कूल के लगभग सभी क्षेत्रों पर प्रकाश डालते हैं. सार्थक और गतिशील पुस्तकालयों पर, प्रयोगशालायों और कला-कमरों में व्यस्त बच्चों पर भी उनके विचारों का स्वागत है. वो बच्चों से खुद अपने लिए “समय” निकालने की अपील करते हैं, जिससे सोच-विचार कर बच्चे अपने कार्य और जीवन के अनुभवों को ज्यादा अर्थपूर्ण बना सकें.

मुझे खुशी है की शंकर मेरी इस मान्यता से सहमत हैं - कि स्कूलों के पास माता-पिताओं और दादा-दादियों की एक भारी फौज मौजूद है. उनके अनुभवों और कुशलतायों को स्कूल के भले के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है. स्कूल जिस समाज में स्थित है उसी समुदाय के लोगों को स्कूल में, बच्चों की सीख के लिए बुलाया जा सकता है. स्थानीय सरकारी अफसरों, विधायकों और न्यायपालिका के सदस्यों के साक्षात्कारों से बच्चे बहुत कुछ सीख सकते हैं. किसी भी बदलाव के लिए समाज से यह जुड़ाव बेहद ज़रूरी है. जब बच्चे अपने समाज से रिश्ता जोड़ते हैं तब वे समाज को जवाबदेह बनाते हैं और बदलाव की धारा को आगे बढ़ाते हैं.

शंकर के इस विचार से भी मैं सहमत हूँ कि हमें अच्छे अभ्यास, विचार और नवाचार, एक-दूसरे से साँझा करना चाहिए. अब हम एक टापू बनकर अलग-थलग नहीं रह सकते. स्कूल अपने सबसे अच्छे और सफल तरीकों को एक-दूसरे से साँझा करें. नयी टेक्नोलॉजी द्वारा ऐसा करना बिल्कुल संभव है. अगर सब लोग अपने विवेक, जानकारी और अनुभवों को एक-दूसरे से बाँटेंगे तभी हम सभी और अधिक ताकतवर बनेंगे. ज़रा सोचिये, पूरे देश के बच्चों पर इसका कितना बड़ा प्रभाव पड़ेगा!

शंकर अपना सबसे क्रान्तिकारी विचार अंतिम अध्याय में पेश करते हैं - ये परीक्षा और स्कूल पुस्तकों से सम्बंधित है! इस अध्याय को आप ज़रूर पढ़ें! उसके बारे में मैं अभी इससे अधिक कुछ नहीं बतायूँगी. पुस्तक का अंतिम अध्याय शिक्षा और शाश्वत विकास के बारे में है, जिसे पढ़ने के बाद आपमें बदलाव लाने की काफी क्षमता आएगी. यह परिवर्तन हमारे बच्चों को एक सार्थक और प्रासंगिक शैक्षणिक अनुभव प्रदान करेगा. इन अनुभवों से बच्चे पुख्ता नागरिक बनेंगे. अपने साहस और आत्मविश्वास से बच्चे दुनिया को एक बेहतर जगह बना सकते हैं. उनकी स्कूली ज़िन्दगी और शिक्षा की यह सही परिणिति होगी.

आभा अडम्स

नयी दिल्ली

जून 2011



प्रस्तावना

प्रिय प्रिंसिपल,

अपने स्कूल में 15 साल शिक्षकों के साथ बिताने के बाद मैंने उससे भी ज्यादा साल देश-विदेश के स्कूलों में शिक्षकों के साथ काम करते हुए बिताये हैं. सीखने-सिखाने में गहरी रुचि रखने के कारण मैंने तमाम शिक्षाविदों के साथ घंटों रोचक चर्चा की है. और हर बार यह चर्चा एक महत्वपूर्ण बिंदु - यानि प्रिंसिपल पर आकर रुकी है. क्योंकि प्रिंसिपल वाकई में बदलाव ला सकता है.

इसलिए मैंने अपने विचार सीधे बॉस से साँझा करने की सोची. वैसे पुस्तक, प्रिंसिपल को संबोधित है पर कोई भी स्कूल का शिक्षक इसके साथ आसानी से सम्बन्ध जोड़ सकता है क्योंकि इसमें शिक्षकों की व्यावसायिक ज़िन्दगी पर विस्तार से चर्चा की गयी है.

मैंने पुस्तक के कुछ अध्याय अपनी एक मित्र शिक्षिका को पढ़ने को दिए। पढ़ने के बाद उनकी पहली प्रतिक्रिया थी, “तुम शिक्षकों पर आक्रमण क्यों कर रहे हो?” या फिर “क्या तुम शिक्षकों को हिलाना चाहते हो?” उनके पहले प्रश्न का उत्तर “न” है, पर दूसरे का जवाब “हाँ” ज़रूर हो सकता है। जिन्हें मैं सबसे ज्यादा प्यार करता हूँ, भला मैं उनपर आक्रमण कैसे कर सकता हूँ? हाँ, शिक्षकों को उनकी नींद से जगाना ज़रूर है जिससे वे अपनी जिम्मेदारियों को सही प्रकार निभा सकें?

आपकी राय जानने से पहले मैं आपको इस छोटी किताब के बारे में कुछ बताना चाहता हूँ। पुस्तक स्कूली शिक्षा के बारे में है। इसमें स्कूल के कुछ रोचक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। इन पहलुओं को नए सिरे से लागू करने पर स्कूल के शैक्षणिक माहौल में बहुत सुधार आएगा। दरअसल स्कूल के यह पक्ष काफी सरल हैं (वार्षिकोत्सव, स्वतंत्रता दिवस, आदि), प्रिंसिपल का कमरा, कला-भवन, विज्ञान-प्रयोग, परीक्षाएं, स्कूल के सैर-सपाटे आदि। यह पुस्तक अध्यापन के भारी-भरकम सिद्धांतों से मुक्त है। शिक्षकों और छात्रों के लिए इसे खासतौर पर आसान और सरल रखा गया है।

फिर भी यह किताब अधूरी है। पुस्तक में स्कूली ज़िन्दगी के कई अहम पक्ष छूट गए हैं। हो सकता है की वो शामिल किये गए पक्षों से ज्यादा महत्वपूर्ण हों। यह जानबूझ कर किया गया है। मैंने उन मुद्दों को नहीं छुआ है जिनके बारे में मैं खुद अज्ञानी हूँ। मैंने केवल स्कूल के उन्हीं मुद्दों को चुना जिनके बारे में मुझे कुछ अनुभव था और जिन्हें लेकर मैं उत्साहित था। पुस्तक, स्कूल के सभी पक्षों और मुद्दों को छुएगी आप ऐसी अपेक्षा न रखें। आप इसे कोई समग्र-ग्रन्थ न समझें जिससे स्कूल का पूरी तरह कायाकल्प होगा। पर हाँ, आप छोटी बदल ज़रूर शुरू कर पाएंगे।

इस किताब में एक और खामी है। कक्षा में हो रही पढ़ाई स्कूली शिक्षा का एक अहम हिस्सा है। पर यह पुस्तक उस पक्ष पर ज्यादा प्रकाश नहीं डालती। पुस्तक में भारी शैक्षणिक सिद्धांत नहीं हैं। पुस्तक स्कूली शिक्षा पर अच्छे विचारों का एक गुलदस्ता है जो स्कूल के रसम-रिवाजों को बेहतर और अधिक कारगर बना सकता है।

किताब लिखते वक्त मुझे अक्सर मध्यकालीन भारतीय इतिहास के भक्ति और सूफी आन्दोलनों की याद आयी। उस काल में हिन्दू और इस्लाम धर्म अपने-अपने कर्मकांडों के दलदल में फंसे थे। उन कारणों से ही भक्ति और सूफी आन्दोलनों का उद्गम हुआ। लगता है आज भारत में, स्कूली शिक्षा की भी वैसी ही हालत है। आज शिक्षा में तमाम महत्वपूर्ण बातें महज रसम-रिवाज बन कर रह गयी हैं और अपने सही लक्ष को भूल गयी हैं। स्कूल में बिताये दिन और वहां होने वाले आयोजन बच्चों को प्रेरित नहीं करते। प्रयोगशाला में विज्ञान के प्रयोगों से, बच्चे उत्तेजित नहीं होते। ऐसा लगता है जैसे अब शिक्षा बदलाव का माध्यम नहीं रही है।

यह किताब स्कूल के रसम-रिवाजों पर प्रश्न खड़ा करती है, उन्हें उनके सही सन्दर्भ में समझने की कोशिश करती है। मैं यहाँ स्वीकार करूंगा कि यह किताब शहरी प्राइवेट स्कूलों (जिन्हें प्रगतिशील माना जाता है) को मद्देनज़र रख कर लिखी गयी है। शायद यह सरकारी स्कूलों के लिए उतनी उपयुक्त न हो। वैसे मेरी मंशा ऐसी नहीं थी पर मेरा ज्यादातर अनुभव प्राइवेट स्कूलों में ही रहा है। पर यह बात माननी पड़ेगी कि पुस्तक में जिन मुद्दों का उल्लेख है वो सरकारी और निजी दोनों तरह के स्कूलों पर लागू होंगे।

वैसे तो सैकड़ों नए-नए विचार हैं, पर उन्हें स्कूल में लागू तो शिक्षक ही करेंगे. आजकल शिक्षक बेहद दबाव और तनाव में रहते हैं. नियमित शिक्षण के साथ-साथ वे बच्चों की नोटबुक्स जांचते और रिपोर्ट-कार्ड तैयार करते हैं. घर के कामकाज के साथ-साथ उन्हें स्कूल की पूरी ड्यूटी भी निभानी पड़ती है. अन्य कार्यों के साथ उन्हें अक्सर ट्रेनिंग पर भी जाना पड़ता है. दिन में सात-आठ क्लास पढ़ाने और कापियों को जांचने के बाद अगर नवाचार के नाम पर उन्हें अतिरिक्त ज़िम्मेदारी सौंपी गयी तो यह उनके साथ अन्याय होगा. मैं शिक्षकों की इस स्थिति से वाकिफ हूँ इसलिए मैंने ऐसा कोई भी प्रस्ताव पेश नहीं किया है जिससे शिक्षकों पर और ज्यादा बोझ पड़े. मेरी बातें मानने से शायद उनका लोड कुछ हल्का हो.

पुस्तक में एक ओर जहाँ वर्तमान स्कूली शिक्षा की आलोचना है, वहीं उन समस्याओं के हल भी हैं, जिनपर कुछ भी खर्च नहीं होता. पुस्तक में स्कूल के विभिन्न स्थानों, प्रसंगों और रसम-रिवाजों को पुनर्गठन करने के कई सरल उपाय सुझाये हैं. उनसे शिक्षक भी सशक्त होंगे. हमें एक कल्पना की उड़ान भरनी होगी - जिससे जो आज कक्षा और स्कूल के स्तर पर असंभव लगता है, वो एक दिन जीती-जागती हकीकत बने.

अगर आप हालातों को बदलने में इच्छुक प्रिंसिपल या टीचर हैं तो आपको इस किताब में परिवर्तन के तमाम नए और साहसी विचार मिलेंगे. आप मेरे कटाक्ष को व्यक्तिगत रूप में न लें. मैं हमेशा आपके साथ रहूँगा. हम मिलकर अपनी दुनिया को बदलने की कोशिश करें. प्रसिद्ध अमरीकी शिक्षाविद सर केन रोबिनसन से अनुसार, "...आज के युग में, स्कूलों का पुनर्गठन और शिक्षा में क्रांति, मौसम बदलाव जिनते ही महत्वपूर्ण मुद्दे हैं."

स्कूल की जगह

प्रिय प्रिंसिपल,

स्कूल एक रोचक स्थान है जहाँ कक्षाओं, प्रयोगशाला, खेल-कमरे, कला-भवन, खेल के मैदान और दफ्तर के स्थान निश्चित होते हैं. स्थान के इस विस्तार में, बच्चा शिक्षा का मतलब समझता है. स्कूल की जगह को बेहद रोचक और शिक्षा के लिहाज़ से पुख्ता बनाया जा सकता है.

बिल्डिंग एस ए लर्निंग ऐड (BALA) एक ऐसा अनूठा प्रयास है. इस प्रोग्राम को कई राज्य सरकारों का समर्थन मिला है. BALA स्कूल की बिल्डिंग को इस तरह रचता है जिससे कि बच्चों को सीखने में मदद मिले. स्कूल की इमारत को सीखने के लिए बेहतर बनाने के लिए उनके पास सैकड़ों रोचक विचार हैं. इसमें सीढ़ियों पर एक, दो, तीन ... नंबर लिखना, दरवाजा बंद होने के चाप पर कोणों के माप लिखना आदि. इमारत को सीखने का संसाधन बनाने का यह बेहद उम्दा तरीका है. BALA की सबसे खूबसूरत बात यह है कि इन सभी चीज़ों को विकसित करने में टीचर्स, आर्किटेक्ट्स और प्रशासकों सभी एकसाथ भागीदारी होते हैं.

सहभागिता से बने इस माहौल में, मैं कुछ और जोड़ने का प्रयास करूँगा. बारिश के पानी इकट्ठा करना भारत के हरेक स्कूल के लिए आज कानून तौर पर अनिवार्य है. कई स्कूलों में बारिश के पानी को इकट्ठा करने का ढांचा,

पहले से ही बना है. स्कूल अपनी वाह-वाही के लिए बड़ी शान से इस तथ्य को नोटिस-बोर्ड पर प्रदर्शित करते हैं, पर पानी कैसे और कहाँ इकट्ठा हो रहा है? बच्चे इससे बिलकुल बेखबर रहते हैं. बच्चों को सिर्फ इतना पता होता है कि उनका स्कूल बारिश का पानी इकट्ठा करता है. वर्षा-जल को इकट्ठा करने वाले इन ढांचों को बहुत आसानी से इस तरह बनाया जा सकता है जिससे बच्चे उनसे कुछ सीखें, और वर्तमान युग में पर्यावरण के प्रति ज्यादा संजीदा बनें.

बारिश का पानी जिन पाइप्स में से बहता है, उन पर बहते पानी की दिशा में तीर पेंट किये जा सकते हैं. थोड़े से खर्चे से बारिश-पानी के इन सारे पाइप्स को एक जगह लाया जा सकता है जिससे वर्षा के समय बच्चे पानी को बहते और इकट्ठा होते देख सकें (उसके बाद तो ज़मीन या सोकिंग-पिट पानी को निगल जाएगा). जिन स्कूलों में वर्षा-जल के दोहन के ढांचे पहले से ही मौजूद हैं वहां शायद कुछ दिक्कतें आयें, पर जिन स्कूलों में यह ढांचे अभी बन रहे हैं वहां यह बिलकुल संभव है. वहां बारिश के पानी के सारे पाइप्स को स्कूल के आँगन या अन्य किसी केंद्रीय स्थान पर लाया जाए जहाँ बच्चे पानी को - एक जानवर के मुँह से निकलता देखें! इस तरह बच्चे, पानी संरक्षण से अपना रिश्ता, आसानी से जोड़ पाएंगे. वर्षा के पानी को एकत्रित करने के लिए अक्सर छतरी को उल्टा करके भी रखा जाता है.



पर्यावरण चेतना जगाने में आजकल बिजली के स्विच बंद करने पर भी काफी जोर है। कई पीढ़ियों से प्रिंसिपल्स ने असेंबली में इस बारे में भाषण दिए हैं, पर उससे कोई फर्क नहीं पड़ा है। एक ट्रेनिंग शिविर में, लुधियाना से आये एक शिक्षक के इस सुझाव में शायद इसका हल मिले। उनके अनुसार हर कक्षा के बाहर एक बिजली का डिजिटल सब-मीटर लगाया जाए। हर महीने के शुरू में उसकी रीडिंग नोट की जाए। कल्पना करें - सेक्शन 6-A और सेक्शन 6-B एक-दूसरे से बिल्कुल पास-पास हैं। दोनों कक्षाएं एक-दूसरे से स्पर्धा करेंगी। जो कम बिजली खर्च करेगा वो जीतेगा। उसके बाद क्या होगा उसका आप अंदाज़ लगा सकते हैं। इससे एक ओर बच्चे अधिक संवेदनशील बनेंगे और बिजली के जो आंकड़े नियमित रूप से इकट्ठे होंगे, उससे पूरे स्कूल के ऊर्जा प्रबंधन में मदद मिलेगी।

बहुत से स्कूल पर्यावरण शिक्षण को बढ़ावा देने के लिए अपने प्रांगण में सुन्दर फूल, सब्जियां और औषधीय पौधे लगाते हैं। पर सच्चाई कुछ अलग है। स्कूल के ज्यादातर बच्चे, खासकर शहरों में, विशेष पौधों के बात तो दूर, सामान्य पेड़-पौधों के बारे में भी कुछ नहीं जानते हैं। अधिकांश बच्चों ने कभी खीरे का पौधा तक नहीं देखा होता है। इसलिए यह संभव है कि बच्चे ने ग्वार-फाटा (एलो-वेरा) का नाम कहीं सुना हो पर खीरा - जिसे वो रोज़ खाता है, उसके बारे में उसे कुछ न पता हो! यही बात भिन्डी, मटर और कई फलों के बारे में भी सच निकलेगी। इसलिए स्कूल के मुख्य ऑफिस की ओर आने वाली सड़क पर, फूलों के गमलों के साथ अगर एक गमले में भिन्डी के पौधे भी लगे हों, तो वो बच्चों के लिए एक बड़ी सीख होगी। गमले पर भिन्डी के नाम की एक बड़ी तख्ती लगायें, जिससे बच्चे उसे पढ़ सकें। पेड़-पौधों में विविधता की शिक्षा देने का, यह एक बहुत सरल और प्रासंगिक तरीका होगा। स्कूल दफ्तर के पास बैंगन, भिन्डी के गमले रखना कुछ अजीब लग सकता है, परन्तु उनसे मिली सीख बहुत महत्वपूर्ण होगी।

अगर संभव हो तो स्कूल अपने प्रांगण में अलग-अलग फलों के पेड़ भी लगाये। इससे बच्चों को मालूम पड़ेगा कि अंगूर बेल से लटकते हैं, वे पेड़ों पर नहीं उगते।

“क्रिस्टल मेज़” नामक एक टेलीविज़न कार्यक्रम मुझे काफी मनोरंजक लगता है। इस शो में एक क्रिस्टल (स्फटिक) को खोजने के लिए भाग लेने वालों को कई कठिन परीक्षाओं से गुज़ारना पड़ता है। कभी वो एक कमरे में जाकर किसी वस्तु को किसी टारगेट (लक्ष) पर फेंकते हैं। अगर स्कूल के मैदान में इस तरह के खेल आयोजित किये जाएँ तो बच्चे अपने मुक्त समय में उनका आनंद ले पाएंगे।

बहुत से स्कूल नई टेक्नोलॉजी और प्रयोगशालों पर खूब पैसा खर्च करते हैं। वे आसानी से एक ऐसी मशीन लगा सकता हैं जिसमें अगर बच्चा किसी खेल में सफल हो, तो उसको इनाम में एक टॉफी मिले। तब बच्चे उस खेल को सीखने की पूरी कोशिश करेंगे, और सफल होने पर उन्हें इनाम भी मिलेगा!

स्कूल के किसी कोने में “कुशलता-कोना” भी होना चाहिए जहाँ दोपहर की छुट्टी में कोई व्यस्क, बच्चों को कोई नई कुशलता सिखा सके। वहां एक दिन बढ़ई आ सकता है और दूसरे दिन कोई मोची। जिन बच्चों की इसमें रुचि हो वो इसमें भाग ले सकते हैं। कई स्कूल इस तरह की गतिविधियाँ बाल-दिवस या पालक-शिक्षक मीटिंग्स में आयोजित करते हैं। पर अगर यह गतिविधि स्कूल का एक नियमित हिस्सा बने तो कितना अच्छा हो?

स्कूल के कई कमरों को धीरे-धीरे विशेष दर्जा मिला है - अब नृत्य, नाटक आदि के खास कमरे होते हैं। मैं यहाँ एक नए कमरे का सुझाव रख रहा हूँ - “कबाड़ से जुगाड़” का कमरा - जहाँ बच्चे फेंकी हुई चीजों से नए-नए खिलोने, मॉडल आदि बना सकें। जहाँ “कबाड़” का मतलब फेंकी हुई चीजें और “जुगाड़” का मतलब नवाचार, नया सृजन होगा। यह कमरा बच्चों की सृजना में चार चाँद लगाएगा। इस कमरे में तमाम औज़ार और सामान मौजूद होंगे - पेंचकश और हथोड़े, स्प्रिंग, घिरनी, रेडियो बनाने की किट्स, पुराने मोबाइल फोन, रेडियो, टेलीविज़न, छतरी और बाल-बेअरिंग पड़े होंगे। कमरा साफ़-सुथरा नहीं होगा, उसमें चीजें इधर-उधर फैली पड़ी होंगी, जिससे बच्चे वहाँ बिना झिझके आयें और अपनी मर्जी से प्रयोग करने को प्रेरित हों। वहाँ फिजिक्स के छात्र घिरनियों और स्प्रिंग्स को देख-छू सकेंगे और उनसे कुछ बना पाएंगे। नहीं तो ऐसी चीजों से प्रयोग करने का अनुभव उन्हें कहाँ मिलेगा?

बच्चे वहाँ पर अपनी साइकिल, स्केट-बोर्ड आदि ला सकते हैं। उन्हें जोड़-तोड़ कर वे कुछ नया बना सकते हैं। बिलकुल उसी तरह जैसे बच्चे “लेगो” के बिल्डिंग-ब्लॉक्स से अपनी मर्जी अनुसार जो चाहें बनाते हैं।

हम कल्पना करें ऐसे स्कूल की जहाँ बच्चे नयी-नयी चीजें रचें और बनायें। ऐसे स्कूल को कबाड़-से-जुगाड़ प्रयोगशाला की बेहद ज़रूरत होगी। जब तक इस तरह की प्रयोगशालाएँ नहीं होंगी जहाँ बच्चों को नवाचार करने की इज़ाज़त हो तब तक नयी खोजें और अविष्कार कैसे होंगे?

मेरे पिता एक इंजिनियर थे। इसलिए घर में हमेशा एक टूलबॉक्स होता था जिसमें पेंचकश, रिंच, पलास और अन्य औज़ार आसानी से मिल जाते थे। पिताजी के साथ बैठकर किसी इलेक्ट्रॉनिक या अन्य उपकरण को खोलकर मरम्मत करने में मुझे बहुत मज़ा आता था।

कबाड़-से-जुगाड़ कमरे में न केवल फेंकी हुई चीजों का दुबारा उपयोग होगा, पर उससे पर्यावरण चेतना भी बढ़ेगी। साथ-साथ वो पूरे स्कूल के लिए एक सृजनात्मक अड्डा बनेगा। उसके लिए स्कूल को किसी नए कमरे का निर्माण नहीं करना पड़ेगा। असल में यह कमरा स्कूल की सबसे सस्ती प्रयोगशाला होगी। उपयुक्त टीचर और सुरक्षा प्रबंधों के बाद वो शायद न्यूटन की प्रयोगशाला बने। जो बच्चे ऐसी प्रयोगशाला से सीख कर निकलेंगे वो इंजीनियरिंग कॉलेज के प्रोफेसर्स की नाक में दम करेंगे। क्यों ठीक है न?

स्कूली समारोह

प्रिय प्रिंसिपल,

मुझे पता है कि स्कूल की प्रतिष्ठा आपके लिए बहुत मायने रखती है, इसलिए आप हरेक आयोजन - चाहे वो पृथ्वी-दिवस हो या वार्षिकोत्सव हो, या फिर कोई और दिवस हो, सभी कार्यक्रमों को बहुत धूमधाम से मानते हैं। आप इन आयोजनों के लिए बहुत प्लानिंग करते हैं - तमाम बैठकें आदि करते हैं। आयोजन में बच्चों की सहभागिता भी ज़रूरी होती है - जिसमें सरस्वती वंदना, नृत्यों आदि शामिल होते हैं।

इस बड़े अवसर के लिए आपको अपना भाषण भी पहले से तैयार करना पड़ता है. आप चाहते हैं कि सभी लोग आपके भाषण की तारीफ़ करें. अपने भाषण में आप किसी महान व्यक्ति के भारी कथन को शामिल करना चाहते हैं. किन-किन लोगों को बुलाया जाए? मेहमानों की सूची आपको बहुत व्यस्त रखती होगी, खासकर अगर मैनेजिंग ट्रस्टी या उनके पिताजी विशेष अतिथि के रूप में आमंत्रित हों.

आज आजादी का दिन है
ध्यान रखना, चुप रहना
भागना मत, सीधी लाइन में चलना



आयोजन के दिन आपका पूरा प्रयास रहता है कि सबकुछ बिलकुल ठीक-ठाक हो. उस दिन सारे टीचर सजधज कर बढ़िया कपड़ों में आएँ (वे पिछले आयोजन वाले कपड़े इस बार न पहनें). इस मौके पर कोई महिला टीचर शायद गले में नया हार पहनें, जिससे बाकी टीचर्स उसके बारे में स्टाफ रूम में चर्चा करें.

आप आयोजन को सफल बनाने का हर संभव प्रयास करते हैं. इस बारे में कोई शक नहीं है. मैं भी ऐसा ही मानता था. पर एक दिन आयोजन के दौरान सभागृह में मुझे एक बच्चा मिला. उसके बाद मुझे अपनी राय बदलने को मजबूर होना पड़ा.

मैं उस बच्चे के साथ तुरंत सम्बन्ध जोड़ पाया. मुझे लगा जैसा आयोजन को सफल बनाने की मशक्कत में कहीं हम उस निरीह बालक को भूल तो नहीं गए? वो बालक - जिसके नाम पर स्कूल इतना बड़ा "नाटक" आयोजित कर रहा था. जो बच्चे मंच पर प्रदर्शन करते हैं, उन्होंने पहले भी कई जलसों में, इसी प्रकार के प्रदर्शन प्रस्तुत किये होंगे. परन्तु जो बच्चे सभागृह में बैठे हैं वो इन प्रदर्शनों को देख कर ऊबते और बोर होते हैं. उनके लिए यह घटना

महज एक आयोजन होता है जिसमें प्रिंसिपल और मुख्य-अतिथि भाषण देते हैं, जिसे सुनकर सब लोग घर वापिस लौट जाते हैं.

वैसे एक कारण से बच्चे खुश भी होते हैं. अब उन्हें क्लास में बैठकर बोर नहीं होना पड़ता है. स्कूली छात्र कई स्तर पर बोर होते हैं. कक्षा में बैठ कर बोर होना, इसमें सबसे खराब माना जाता है. सभागृह में बैठकर बोर होना उससे कुछ बेहतर होता है. क्लास के बाहर बच्चे हमेशा खुश रहते हैं.

और फिर मुझे कुछ टीचर्स के मुरझाये चेहरे दिखाई देते हैं. यह टीचर्स बहुत भाग-दौड़ कर रहे हैं. उनके दिमाग में क्या चल रहा है मैंने उसे भांपने की कोशिश की. उससे मैं काफी उदास हुआ. इस मौके पर उनके दिमाग में सबसे बड़ी चिंता क्या होगी? उनकी चिंताओं और परेशानियों को मैं आसानी से समझ सका. “बाप रे! गुलदस्ते में पीले गुलाब हैं, जबकि प्रिंसिपल ने सफेद गुलाब लाने का आदेश दिया था. अब मेरी शामत आएगी!” या फिर, “दीप प्रज्ज्वलन के लिए मुझसे मोमबत्तियों पर रिबन से बाँधने को कहा था, जो मैं बिलकुल भूल गया!”

एक लम्बे अरसे के दौरान, मैंने स्कूलों में ऐसे तमाम आयोजनों को बहुत करीबी से देखा है. आजतक मुझे कोई ऐसा टीचर नहीं मिला जिसकी चिंता इस प्रकार की रही हो, “हे भगवन, क्या आजका यह आयोजन (चाहें वो पृथ्वी-दिवस, स्वतंत्रता-दिवस या अन्य कोई दिवस) मेरे बच्चों के दिलों को छुएगा, क्या वो उससे प्रेरित होंगे?”

बेटे-बेटी की शादी करते समय आप मेहमानों की खातिरदारी, मनोरंजन और उनके खान-पान में इतने व्यस्त हो जाते हैं कि, जिस बेटे-बेटी की शादी हो रही है, आप उसे बिलकुल भूल जाते हैं. इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि इन आयोजनों के दौरान बच्चे पर्यावरण संरक्षण, स्वतंत्रता या अन्य किसी विषय के बारे में कुछ नहीं सीखते हैं. इस सबसे मैं बहुत पीड़ित और परेशान हुआ. फिर मैंने स्कूल द्वारा आयोजित इन विशेष दिवसों को एक नयी नज़र से देखने और उनसे पुनर्गठित करने की ठानी. इसके लिए मैंने स्वतंत्रता-दिवस को चुना - जो वाकई मैं एक अनूठा दिन है.

स्कूल अपने वार्षिकोत्सव को अलग-अलग तरीकों से मानते हैं. परन्तु सभी स्कूल, स्वतंत्रता-दिवस को लगभग एक ही तरीके से मानते हैं. देश का सबसे “घटिया” स्कूल - जिसमें बुझे हुए टीचर्स, और बेकार प्रिंसिपल हो, या सबसे “उम्दा” स्कूल - जहाँ प्रेरित शिक्षक और उत्साही प्रिंसिपल हो, दोनों ही स्कूलों में स्वतंत्रता-दिवस, एक-जैसे तरीके से मनाया जाता है. उस शुभ दिवस पर झंडा फहराया जाता है, राष्ट्रभक्ति के गीत गाये जाते हैं, और कुछ स्कूलों में फैंसी-ड्रेस स्पर्धा होती है, जिसमें बच्चे चाचा नेहरु और गांधी के लिबास पहनते हैं. कुछ स्कूल एक-कदम आगे बढ़कर शहीद भगत सिंह की ज़िन्दगी पर एक नाटक भी आयोजित करते हैं. पर असलियत में अलग-अलग स्कूलों में लगभग एक जैसा ही आयोजन होता है - चाहें स्कूल प्रगतिशील हो अथवा दकियानूसी.

मैं पहले भी जोर देकर कह चुका हूँ कि स्वतंत्रता-दिवस पर इस प्रकार के आयोजनों से, सभागृह में बैठे बच्चे बिलकुल प्रेरित नहीं होते, बल्कि बोर होते हैं. वैसे स्कूल इन आयोजनों पर खूब पैसा और समय बर्बाद करते हैं.

समय बीतने के साथ-साथ अब बच्चे हमारे केंद्र का बिंदु नहीं रह गए हैं; उल्टे हम बेकार और फ़िज़ूल के उलझनों में फंस गए हैं. स्कूल का कला-शिक्षक बहुत श्रम लगाकर स्कूल को, राष्ट्रीय झंडों से सजाता है और स्वतंत्रता-दिवस

के मौके पर नोटिस-बोर्ड पर भगत सिंह के चित्रों की प्रदर्शनी लगाता है. हो सकता है कोई काबिल कला-शिक्षक पूरे स्कूल में तिरंगी साड़ियाँ भी लटकाए (मूलतः प्रिंसिपल को खुश करने के लिए).

पर इस सबसे कोई खास फर्क नहीं पड़ता है. धीरे-धीरे, हमारा कद बौना हुआ है. प्रिंसिपल और उनका शिक्षित स्टाफ अक्सर एक ही चर्चा में पूरी दोपहर बर्बाद करते हैं - मुख्य-अतिथि का स्वागत कैसे हो - फूलों के गुलदस्ते से, या फिर शाल से? भगत सिंह और गांधीजी की फोटोग्राफ को ताज़े फूलों की माला से सजाया जाए, अथवा “ज्यादा दिनों तक टिकने वाले” फूलों से? संगीत शिक्षक के मन को केवल एक सवाल कचोटता है - बच्चे राष्ट्रभक्ति के गाने, स्कूली यूनिफार्म पहन कर गायें, या फिर वे आजादी से पहले प्रचलित कुर्ते-पजामे पहनें.

इस बार के मुख्य-अतिथि, मैनेजिंग ट्रस्टी के पिता हैं. क्योंकि वो मधुमेह (डायबिटीज) से पीड़ित हैं इसलिए प्रिंसिपल को केवल एक सवाल सताता है - मुख्य-अतिथि के लिए फीकी चाय, और बिना चीनी के बिस्कुटों का इंतजाम.

कृपा मेरे व्यंग को कृपा माफ़ करें. अब हर चीज़ की, पूरी-पूरी व्यवस्था हो चुकी है ... बस सभागृह में बैठे बच्चों को छोड़ कर! किसी को इस बात की परवाह नहीं है - वो निरीह बच्चे भला अपने साथ, घर क्या लेकर जायेंगे? क्या स्वतंत्रता-दिवस के उत्सव पर बच्चों ने आज़ादी के आन्दोलन के बारे में कुछ सीखा? क्या बच्चे “आज़ादी” शब्द का मतलब भी समझे? इन प्रश्नों का उत्तर जानना कठिन नहीं होगा.

उसके बाद से मेरी यात्रा शुरू हुई - स्वतंत्रता-दिवस को एक नए तरीके से कैसे मनाया जाए जिससे बच्चे उसके साथ अपना रिश्ता जोड़ सकें. अक्सर लोग आज़ादी को - आन्दोलनों, स्वतंत्रता-सेनानियों और भारत-छोड़ो आन्दोलन से जोड़ते हैं. पर अब स्वतंत्रता आन्दोलन का बाकी बचा ही क्या है? सबसे पहले मेरे दिमाग में स्वतंत्रता-सेनानियों की तस्वीर उभरी. मुझे लगा कि ऐसे क्रान्तिकारी लोग देश के हरेक हिस्से में होंगे. क्यूँ न मैं अपने स्कूल के बच्चों की इन स्वतंत्रता-सेनानियों से मुलाकात करवायूँ?

फिर मैंने स्वतंत्रता-सेनानियों की खोज शुरू की. मुझे लगा कि उन्हें खोजना आसान होगा क्योंकि बहुत से स्वतंत्रता-सेनानियों को सरकार पेंशन देती थी. पर असल में यह काम काफी कठिन निकला. पेंशन दफ्तर से स्वतंत्रता-सेनानियों की सूची निकलवाना बेहद झंझट का काम निकला, और अंत में मैं उसमें असफल रहा (वो कहानी मैं कहीं और बयां करूंगा). अंत में मैं नयी दिल्ली के जंतर-मंतर स्थित, स्वतंत्रता सेनानी एसोसिएशन ऑफ़ इंडिया के दफ्तर पहुंचा. वहां से मुझे दिल्ली में बसे कुछ स्वतंत्रता-सेनानियों के पते मिले.

मैं यहाँ उनके नामों का उल्लेख करना चाहता हूँ क्योंकि उन्होंने मेरे इस प्रोजेक्ट को अपना पूरा सहयोग दिया. सुभद्रा खोसला केवल 13 साल की थीं, जब उन्होंने लाहौर में, भारत-छोड़ो आन्दोलन में हिस्सा लिया. वो अब काफी उम्र-दराज़ थीं, पर वो पहली इंसान थीं जिन्होंने इस प्रोजेक्ट को आगे विकसित करने के लिए मुझमें जान फूँकी. साथ में वो, बच्चों से मिलने को बेहद तत्पर थीं. उनकी जिंदादिली देखकर मुझे आश्चर्य भी हुआ. यही आलम, हरी राम का भी था. वो उस समय 90 साल के थे. एक ज़माने में वो सुभाष चन्द्र बोस की इंडियन नेशनल आर्मी के सदस्य थे.

बच्चों के लिए स्वतंत्रता-सेनानी से मिलने का अनुभव बिल्कुल अद्भुत था. मुलाकात में बच्चों ने मेरी अपेक्षा से कम प्रश्न पूछे. पर बच्चों और स्कूल के स्टाफ पर इस मुलाकात का बहुत परभावनात्मक असर पड़ा. मैं उस बैठक के विस्तार में नहीं जायूंगा. आप खुद उसकी कल्पना कर सकते हैं. आप आखरी बार ऐसे इंसान से कब मिले जो देश की आज़ादी के लिए लड़ा हो?

मैंने एक और काम किया. मैं बच्चों को जंतर-मंतर ले गया, वहां स्थित मशहूर स्मारक दिखाने नहीं, परन्तु उससे लगी हुई सड़क पर - जहाँ हर क्षेत्र के हजारों लोग रोजाना "विरोध" प्रदर्शन के लिए इकट्ठे होते हैं. वो गाने गाते हैं, नारे लगाते हैं. संसद भवन पहुँचने से पहले ही उन्हें पुलिस रोकती है. वे अपनी मांगों को मनवाने के लिए धरने पर बैठते हैं. रोचक बात यह है वहां रोजाना कोई न कोई मोर्चा, या धरना होता ही है. क्योंकि स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भी लोगों ने बहुत आन्दोलन किये, इसलिए इस अनुभव से बच्चों को "विरोध" प्रदर्शन का अच्छा अंदाज़ मिला होगा.

बच्चों को छोटे समूहों में जंतर-मंतर पर छोड़ दिया गया. वो प्रदर्शनकारियों से मिलकर उनसे कुछ प्रश्न भी पूछ सकते थे. वे "विरोध" क्यों कर रहे थे? उनके मुद्दे क्या थे? क्या उनके "विरोध" का कुछ असर होगा? उन्होंने "विरोध" का यह तरीका ही क्यों चुना, आदि?

इसके दौरान बच्चे भोपाल गैस पीड़ितों, आणविक बिल का विरोध करते सीपीआई (एम) के सदस्यों और बीजेपी के तमाम कार्यकर्ताओं से मिले - जो कामनवेल्थ गेम्स के दौरान SC/ST फंड्स में घोटाले के खिलाफ प्रदर्शन करने आये थे.

इनमें कुछ ऐसे भी बच्चे थे जिन्हें यह शायद यह काम उबाऊ लगा हो. फिर भी मुझे लगा कि इस अनुभव का उनपर कुछ-न-कुछ असर ज़रूर पड़ा होगा. एक दिन वो इसे अपने किसी अन्य अनुभव से जोड़कर एक नया शैक्षणिक अनुभव गढ़ पाएंगे?

इस पूरे अभ्यास में शिक्षकों पर कोई अतिरिक्त ज़िम्मेदारी नहीं पड़ी पर बच्चे इस अभ्यास में पूरी लगन से शरीक हुए. इस प्रकार हम स्कूल में एक नए प्रकार का आयोजन कर पाए, जिसके केंद्र में बच्चे थे, और जहाँ शिक्षक फालतू के गुलदस्तों और साड़ियों की ज़हमत से मुक्त थे. असल में इस पूरे अभ्यास के बाद कई शिक्षकों ने मुझे आकर धन्यवाद भी दिया.

इस बड़े प्रयोग के अंतर्गत हमने एक अन्य छोटा प्रयोग भी किया. छठी क्लास के बच्चों से महात्मा गाँधी को एक पत्र लिखवाया गया. पत्र किसे लिखना है, उसके नाम के अलावा बच्चों को कोई अन्य निर्देश नहीं दिए गए. जो नतीजे आये वो चौंका देने वाले थे. बच्चों ने अपने पत्रों में ढेर सारी अलग-अलग बातें लिखीं. पत्र लिखते समय बच्चों ने मौलिक रूप से सोचा. एक लड़की ने लिखा, "मैंने सुना है कि सभी लोग आपकी बातें सुनते हैं. भला यह कैसे संभव हो सकता है? मेरे क्लास में तो कोई भी मेरी बात नहीं सुनता है..."

कुछ पत्र इस प्रकार शुरू हुए, “प्रिय बापू, आप कैसे हैं?” मुझे यह पत्र पढ़कर अच्छा लगा. कुछ बच्चे गाँधी को एक मित्र जैसे संबोधित कर रहे थे. और इससे मुझे अपने दूसरे प्रयोग आयोजित करने की प्रेरणा मिली - गाँधी जयंती, यानि 2-अक्टूबर का दिन.

कई शिक्षकों को लगता होगा कि जैसे मैं परंपरागत आयोजनों की आलोचना कर रहा हूँ. कुछ हद तक यह सच भी है. सिर्फ नाच-गानों, नाटक आयोजित करने की बजाये अच्छा हो अगर हम बच्चों को, एक अर्थपूर्ण तरीके से शामिल करें. क्यों न हम आयोजन को उस विशेष दिवस के लिए प्रासंगिक बनायें और बच्चों को स्वतंत्रता-सेनानियों से मिलवाएं? हम स्कूल में जो भी पर्व, उत्सव मनाएं वो “बाल-केन्द्रित” और प्रासंगिक हो, जिससे बच्चे उसके मतलब और महत्व को समझें.

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है. हो सकता है स्कूल स्वतंत्रता-सेनानियों को आमंत्रित करे पर साथ-साथ दीप-प्रज्ज्वलन, भाषण आदि रीति-रिवाज़ भी निभाए. उसका परिणाम क्या होगा? बच्चे पूरी तरह बोर हो जायेंगे, ऊब जायेंगे.

मेरे अनुसार अगर कोई स्वतंत्रता-सेनानी क्लास में जाकर, केवल बीस बच्चों से बात करे, उन्हें अपने अनुभव सुनाये, और उनके प्रश्नों के जवाब दे, तो यह अनुभव बच्चों के लिए बहुत सार्थक होगा. बच्चे इस अनुभव को कभी नहीं भूलेंगे. इससे स्कूल का आगे का रास्ता भी प्रशस्त होगा. बाद में स्कूल शायद अन्य स्वतंत्रता-सेनानियों को भी आमंत्रित करे.

इसी तरह हमें स्थानीय सांसदों, विधायकों को भी स्कूल में बुलाना चाहिए - भाषण देने और पुरस्कार बांटने के लिए नहीं, पर छात्रों को इलेक्शन और प्रजातंत्र प्रणाली समझाने के लिए. आगे के एक अध्याय में हम इसे विस्तार से समझेंगे.

दरअसल मैं इन ताम-झाम वाले आयोजनों, उत्सवों को “सामान्य” बनाना चाहता हूँ, जिससे शिक्षक फालतू की बातों में उलझने की बजाए बच्चों के साथ अर्थपूर्ण अनुभव बाँट सकें. मैं चाहता हूँ कि स्कूल का हर आयोजन प्रासंगिक हो. इसलिए पृथ्वी-दिवस वाले दिन स्कूल कबाड़ीवालों को बुलाये, जिससे वो बच्चों को रीसाइक्लिंग (चीज़ों के दुबारा इस्तेमाल) के बारे में बता सकें.

हमें स्कूल के आयोजनों में कुछ नया करना चाहिए. इसके लिए हम वार्षिकोत्सव (annual-day) का उदाहरण लेंगे. असल में किसी को यह पता नहीं कि वार्षिकोत्सव क्यों मनाया जाता है. क्योंकि स्कूल में साल के एक विशेष दिन बड़ा जलसा होता है इसलिए हम उसे वार्षिकोत्सव कहते हैं. इस तर्क के आधार पर हमें स्कूल में “मासिक-दिवस” और “साप्ताहिक-दिवस” भी आयोजित करना चाहिए!

कुछ प्रगतिशील स्कूलों ने इस तर्क को नाकारा है और उसे “संस्थापक-दिवस” का नाम दिया है. स्कूल किसने शुरू किया यह किसी को पता नहीं होता है. संस्थापक ने फैक्ट्री क्यों नहीं शुरू की, स्कूल क्यों शुरू किया इसका जवाब भी किसी को नहीं मालूम होता है. स्कूल किसी एक विशेष दिन तो स्थापित हुआ नहीं होगा, इसलिए वार्षिकोत्सव

को साल के किसी भी दिन मनाया जा सकता है. अक्सर वार्षिकोत्सव को सत्र के मध्य में मनाया जाता है. क्या यह संभव है कि, सभी संस्थापकों ने अपने स्कूल सितम्बर और नवम्बर के बीच में स्थापित किये हों?

भाग्यवश, अंग्रेजी राज से हमें छुटकारा मिला तभी हमारे यहाँ “स्वतन्त्रता-दिवस” नामक एक दिन है. नहीं तो हमें भारतवर्ष में “वार्षिकोत्सव” ही मानना पड़ता, और किसी भारतीय को उसके उद्गम के बारे में नहीं पता होता. यह भी संभव है कि तब हम, दिवाली या ईद (धार्मिक अर्थ में नहीं) जैसे किसी पर्व को “वार्षिकोत्सव” का दर्जा देते.

स्कूलों में सबसे अभिनव दिन “टीचर्स-डे” (शिक्षक-दिवस) के रूप में मनाया जाता है. उस दिन स्कूल के बड़े छात्र स्कूल का संचालन करते हैं. उस दिन पढ़ने वाले बच्चे, स्कूल के शिक्षक बनते हैं. बच्चों के लिए यह एक अनूठा अनुभव होता है. परन्तु, स्कूलों की नज़रों में यह महत्वपूर्ण दिन भी, एक आम दिन जैसा ही होता है.

अगर आप किन्हीं दस बच्चों से पूछें कि उनके स्कूली दिनों में सबसे यादगार आयोजन कौन सा था, तो दस में से नौ बच्चों को शायद “शिक्षक-दिवस” की याद आएगी. वैसे “शिक्षक-दिवस” को भी नए प्रयोगों द्वारा और बेहतर बनाया जा सकता है, परन्तु अपने वर्तमान रूप में भी वो एक यादगार दिन है. स्कूल के शिक्षकों को भी उस दिन मज़ा आता है, क्योंकि तब किसी मुख्य-अतिथि को नहीं बुलाया जाता है, और न ही शिक्षकों को विशेष साड़ी और कपड़े पहनने पड़ते हैं.

प्रयोग

प्रिय प्रिंसिपल,

मुझे वो वक्त अच्छी तरह याद है जब मैं कक्षा पांच में गया. तब हमें पहली बार पेंसिल के जगह बालपेन के इस्तेमाल की इज़ाज़त मिली. उससे मैं काफी उत्साहित हुआ. मुझे अब मैं बड़ा होने का अहसास हुआ. अब मैं पेन से लिखने के काबिल हो गया था. तब मैंने पहली बार “प्रैक्टिकल-कॉपी” और टाईमटेबल में “प्रैक्टिकल” का पीरियड देखा. कितना मज़ा आयेगा “प्रैक्टिकल्स” में - अब मैं विज्ञान के प्रयोग कर पायूंगा!

पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी. मैं हमेशा से “प्रैक्टिकल्स” करना चाहता था. मैं देखना चाहता था कि नीले और रुपहले रंगों को मिलाने से क्या बनेगा. मैं ऐसे तमाम प्रयोग करना चाहता था पर उन्हें करने की अनुमति मुझे कभी नहीं मिली. पर अब स्कूल मुझसे पूछ रहा था “क्या तुम प्रयोग करना चाहोगे?” पर हमें उन्हीं प्रयोगों को करने की इज़ाज़त थी जो हमारी किताब में थे और जिनके परिणाम पहले से ही पता थे. अगर नतीजे पहले से ही पता हों, तो उन प्रयोगों को करने का क्या फायदा?



“प्रयोग” शब्द जादुई होता है और बच्चों को रोमांचित करता है. प्रयोगों में कितना मज़ा आएगा! अगर हमने यह किया, तो फिर क्या होगा ...? क्या यह करना संभव होगा...? पर दुर्भाग्यवश जब स्कूल में “प्रैक्टिकल्स” की शुरुआत होती है और बच्चों को प्रयोगशाला ले जाया जाता है तो बच्चों को सबसे पहले क्या उपदेश दिया जाता है - “प्रयोग मत करो!” ये मत छुओ! वो मत छुओ! जो तुम्हे हुक्म दिया जाए सिर्फ वही करो. मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि प्रयोगशाला में अकेले छोड़े जाने पर बच्चे परेशानी में फंस सकते हैं, परन्तु बच्चों का प्रयोगों से पहला परिचय, एक बेहतर तरीके से किया जा सकता है.

प्रयोगशाला में कुछ नया करने पर इतनी सारी पाबंदियां हैं कि प्रयोग करने का सारा मज़ा ही किरकिरा हो जाता है. बच्चों को इस बात का कोई मौका नहीं मिलता कि वे मुक्त होकर कुछ कर सकें और सच्ची खोज के रोमांच को अनुभव कर सकें. स्कूल का एक ही जोर होता है - प्रयोगशाला एकदम चमचमाती और साफ़-सुथरी दिखे. काश मैं स्कूली अधिकारियों को मशहूर वैज्ञानिकों - न्यूटन और एडिसन की प्रयोगशालाओं का दौरा करा पाता. वहां पर चीज़ें इधर-उधर बिखरी होतीं. वो प्रयोगशालाएं साफ़-सुथरी नहीं होतीं. सफाई के प्रति लगाव की यह झलक आप हरेक स्कूल की प्रयोगशाला में देख सकते हैं.

“प्रैक्टिकल-कॉपी” असल में एक नोट-बुक ही होती है. वो थोड़ी बड़ी होती है, इसलिए उसकी कीमत भी बहुत ज्यादा होती है. “प्रैक्टिकल-कॉपी” में एक पन्ना बिलकुल सफ़ेद होता है, और दूसरे पर सीधी लाईनें होती हैं. आपको बस

यह करना होता है - लाइनों वाले पन्ने पर प्रयोग के क्रमवार चरण लिखें और दूसरे पन्ने पर प्रयोग का साफ-सुथरा चित्र बनायें। यहाँ, गलती को सुधारना एक गुनाह है - सब कुछ एकदम साफ-सुथरा होना चाहिए।

न्यूटन और एडिसन की “प्रेक्टिकल-कॉपी” कैसी होंगी उसकी आप आसानी से कल्पना कर सकते हैं। स्कूल के ऊपर बंदिश होगी - उन्हें सीबीएसई (CBSE) के निर्देशों का पालन करना पड़ता होगा। पर क्या हम इस तर्क को बर्बादी की सीमा तक नहीं ले गए हैं? बेंगलोर में मेरी फिजिक्स टीचर मिस उषा बहुत काबिल थीं। उन्होंने इसका एक अच्छा हल निकाला। वो बहुत होशियार थीं। उन्होंने सिस्टम की गरिमा को बरकरार रखकर भी अपने छात्रों से अच्छा काम करवाया। उन्होंने साफ-सुथरी “प्रेक्टिकल-कॉपी” के साथ-साथ हमें एक “रफ” कॉपी भी तैयार करने को कहा। फिर उन्होंने कहा, “मैं सिर्फ तुम्हारी “रफ” कॉपी ही जांचूंगी।”

पहले हमें यह एक मजाक लगा, परन्तु उन्होंने जो कहा, वही किया। उन्होंने हमारी साफ-सुथरी “प्रेक्टिकल-कॉपी” को कभी देखा तक नहीं, सिर्फ “रफ” कॉपी को जांचा। वो यह भी कहती थीं, “जो कॉपी जितनी ज्यादा गन्दी होगी वो उतनी ही अच्छी होगी तुम लोग मेहनत करो और अपनी लैब-कॉपी को गन्दा करो। जिस बच्चे ने वाकई में प्रयोग किया होगा उसे ही हिसाब-किताब और गणना करने की ज़रूरत पड़ेगी।”

उन्होंने हमें जो सबसे पहला प्रयोग करने को दिया वो मुझे अब भी याद है। मैं उस समय ग्यारहवीं क्लास में था। विद्युत् के पाठ में हमें श्रेणी (series) और सामानांतर (parallel) प्रतिरोधों (resistance) पर प्रयोग करने थे। पर मिस उषा को हमारी औकात पता थी। इसलिए उन्होंने हमें फुट-रूल थमाए और हमसे कुर्सियों और मेजों के लम्बाई नापने को कहा। इसके लिए हमें हरेक नाप को कम-से-कम तीन बार दोहराना था। ऐसा क्यों? हमें इस बात पर अचरज था। पर हमें जल्द ही उसका उत्तर मिल गया। हर बार हमारा नाप कुछ अलग आता। फिर मिस उषा ने हमसे उनका औसत लेने को कहा और इस तरह माप के दौरान होने वाली गलतियों को हम समझ पाए। इस सीख को हमने दूसरे प्रयोगों में बखूबी इस्तेमाल किया। मिस उषा वाकई में एक महान टीचर थीं। वो अब कहाँ हैं, और उन्हें कभी राष्ट्रपति पदक मिला या नहीं, यह मुझे नहीं पता, पर उनके इस छात्र ने उन्हें अवश्य “बेस्ट-टीचर” के खिताब से नवाज़ा है। काश, हर स्कूल के नसीब में मिस उषा जैसी प्रेरक टीचर होती?

आपने सही अनुमान लगाया - स्कूल में सब छात्रों का सबसे प्रिय अड़्डा फिजिक्स की प्रयोगशाला थी, क्योंकि हमें वहाँ वाकई में प्रयोग करने का मौका मिलता था। मिस उषा ने लैब असिस्टेंट को सख्त निर्देश दिए थे - बच्चों को अलमारियों में से जो चाहें निकालने दो और उनकी जो मज़ी हो उन्हें वो करने दो।

मैं ऐसे केमिस्ट्री टीचर का स्वप्न देख रहा हूँ जो बच्चों को कैटआयन और अनआयन पढ़ने से पहले उन्हें हानि-रहित, छोटे-छोटे प्रयोग करने की छूट देगा। मैं ऐसी प्रयोगशाला की कल्पना कर रहा हूँ जहाँ छात्रों को प्रयोग करने के पूरी छूट होगी। कितना अच्छा हो अगर छात्र, प्रयोगशाला में “वैज्ञानिक” बनने के लिए उत्साहित होकर जाएँ। प्रयोगशाला के दरवाज़े सबके लिए खुले होने चाहिए। पर हम प्रयोगशाला को एक “पवित्र स्थान” मानते हैं। उसमें घुसने से पहले बच्चों को तमाम अनुष्ठानों से गुज़ारना होता है। इससे बच्चे मूर्ख बनते हैं और वे केवल वही प्रयोग करते हैं जिनके उत्तर दुनिया को बहुत पहले से ही पता हैं। सच तो यह है कि वो उत्तर किताबों में छप चुके हैं। ऐसे में बच्चे के अन्दर बसा वैज्ञानिक तभी और वहीं मर जाता है।

एक अन्य चीज़ में कहने को तत्पर हूँ. मेरी राय में वैज्ञानिक प्रयोगशालाएं रोचक जगहें होनी चाहिए; पर उन्हें प्रदर्शन का स्थान नहीं होना चाहिए. देश में शायद ही कोई प्रयोगशाला हो जहाँ कांच की ऊंची पारदर्शी इल्मारी में मानव-कंकाल प्रदर्शित नहीं किया गया हो. गौर से देखने पर अस्थि-पंजरों पर आपको धूल की एक परत नज़र आएगी. स्कूल ने इस नर-कंकाल को खरीदने में काफी रकम खर्च की होगी.

पर सच्चाई कुछ अलग है - ज्यादातर शिक्षकों ने उसका पढ़ाई के लिए कोई इस्तेमाल नहीं किया होगा, क्योंकि उन्हें उसकी ज़रूरत ही नहीं पड़ी होगी. किसी शिक्षक ने उस कंकाल को पांच मिनट के लिए भी गौर से नहीं निहारा होगा. रोचक बात है कि पांचवीं कक्षा से ऊपर "प्रैक्टिकल" की किसी किताब में वैज्ञानिक प्रयोग के लिए कंकाल के उपयोग का कोई ज़िक्र नहीं है. फिर यह महंगा कंकाल हरेक स्कूल की प्रयोगशाला में क्यों होता है? क्या कभी आपने इसके बारे में सोचा है?

प्रयोगशाला में कंकाल के होने का मुझे एक तर्क दिया गया. हमारे शरीर में 206 हड्डियाँ होती हैं और उनमें से सबसे लम्बी हड्डी "फेमर" कहलाती है, यह सिखाने के लिए कंकाल प्रयोगशाला में लाये गए थे. इस छोटी सी जानकारी के लिए, इतना बड़ा निवेश! फिर भला उसमें प्रयोग क्या है? मेरे अनुसार प्रयोगशाला, एक प्रदर्शन-गैलरी नहीं बननी चाहिए.

देश के स्कूलों की अनेकों प्रयोगशालाओं में "स्टार-फिश" और विविध सांप कांच के मर्तबानों में सजे दिखाई देते हैं. उनका पाठ्यक्रम से कुछ लेना-देना नहीं होता. वे दो कारणों से वहां होते हैं:

1. वो प्रयोगशाला कैसी जो दिखने में प्रदर्शन-गैलरी जैसी लगे नहीं? फालतू के कंकाल, सांप आदि प्रदर्शित करके प्रयोगशाला को "वैज्ञानिक" जामा पहनाया जाता है.
2. अगर प्रयोगशाला पर नहीं तो फिर स्कूल पैसे कहाँ खर्च करे? आप उन पैसों से बीकर, कांच के मर्तबान और टेस्ट-ट्यूब्स खरीद सकते हैं. देश में शायद ही ऐसी कोई प्रयोगशाला हो जहाँ पर छात्रों और लैब-असिस्टेंट में अतिरिक्त टेस्ट-ट्यूब्स की मांग को लेकर बहस न हुई हो. टेस्ट-ट्यूब्स का हमेशा टोटा होता है क्योंकि उन पैसों से "स्टार-फिश" खरीदी गयीं थीं.

मैं उस शिक्षाशास्त्री से भी मिलना चाहता हूँ जिसने सबसे पहले कक्षा पांच से विज्ञान प्रयोग करने का सुझाव दिया. मेरी राय में "प्रैक्टिकल्स" एकदम शुरू से, यानि नर्सरी से लागू होने चाहिए. मेरे इस सुझाव से - कि "प्रयोग" प्री-स्कूल से लागू होने चाहियें, मारिया मोंटेसरी ज़रूर सहमत होंगी.

कुछ देर सोचने पर हम आसानी से उन प्रयोगों की एक सूची बना सकते हैं जिन्हें 1-5 कक्षा के बच्चों को करना चाहिए, जिससे उन्हें पढ़ने में मज़ा आये और उनकी पढ़ाई सार्थक बने. कल्पना करें ऐसे बच्चों की जो बचपन से अपने हाथों से प्रयोग कर रहे हैं. ऐसे छात्र IIT (आईआईटी) और AIIMS (एम्स) की प्रयोगशालाओं को अपने विचारों और नवाचारों से, नई बुलंदियों पर पहुँचाएंगे!

इस बारे में सोचते हुए मैंने एक और रोचक 'खोज' की - हमारे पाठ्यक्रम में सामाजिक-विज्ञान के विषयों में प्रयोग करने का कोई प्रावधान नहीं है. विज्ञान में "प्रयोग" होते हैं, और अब गणित की भी प्रयोगशालाएं खुल रही हैं, परन्तु अभी तक सामाजिक-विज्ञान विषयों के लिए कहीं भी प्रयोगशालाएं नहीं खुली हैं.

सामाजिक-विज्ञान में प्रयोगों के मुद्दे पर कुछ शिक्षाविद मेरी नियत पर सवाल उठा सकते हैं. परन्तु बिना मानव गरिमा से समझौता किये कोई भी रचनात्मक व्यक्ति सामाजिक-विज्ञान में प्रयोग कर सकता है.

आज किसी के लिए सामाजिक-विज्ञान की प्रयोगशाला की कल्पना करना मात्र भी एक चुनौती है. सालों से बच्चों ने कई नायाब भौगोलिक घटनाओं पर अचरज किया है - ग्लेशियर द्वारा बहाया हुआ मलबा, वक्राकर "U" आकर की झीलें और "V" आकर की घाटियाँ आदि. पर कुछ महंगी, अच्छी भूगोल की पुस्तकों के अलावा किसी अन्य पुस्तक में इनके कोई चित्र नहीं मिलते. "U" आकर की घाटियाँ, ऊंची पहाड़ियों के बीच में गहरा समुद्र, गहरी घाटी के बीच बहती नदी (कैनियन) आदि के भौतिक मॉडल अगर छात्र देखेंगे, तो उनकी जानकारी बढ़ेगी और ज्ञान में इजाफा होगा.

बचपन में दादा-दादी के घर जाने की याद मुझे अभी भी तरोताजा है. उनके बाग में एक पाइप से पानी लीक कर रहा था. मैंने अपने भाई के साथ मिलकर उस बेकार पानी को एक फूलों की क्यारी तक ले जाने में सफल हुआ. हमने कई स्थानों पर उस बहते पानी को रोककर छोटे "बाँध" (डैम) बनाये. हमें यह देख कर भी आनंद हुआ कि पानी जहाँ कुछ देर बहा वहाँ कुछ स्थानों पर, रेत जमा होने लगी थी. अब नदी के उद्गम और उसके बहाव की गतिशील कहानी हमारी आँखों के सामने मौजूद थी. स्कूल में भूगोल की कोई प्रयोगशाला नहीं होने के कारण वो मेरी "भूगोल-लैब" बन गयी.

फिर भूगोल ही क्यों नागरिकशास्त्र (सिविक्स) क्यों नहीं (मुझे खुशी है कि किसी ने "सिविक्स" का नाम बदल कर सामाजिक-राजनैतिक विज्ञान रखा). हरेक नागरिकशास्त्र की पुस्तक में हमारे संविधान का जिक्र होता है, पर संविधान को देखने के लिए बच्चे को लाइब्रेरी में जाना होगा. कितना अच्छा हो कि अगर कुछ राजनैतिक पार्टियों के पोस्टर, इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (EVM), चुनाव में नामांकन भरने के फॉर्म (हममें से कितनों ने उन्हें देखा है), बिजली-पानी के कनेक्शन हेतु फॉर्म स्कूल में उपलब्ध हों. सोचने पर ऐसी कई अन्य बातें आपके दिमाग में आएँगी. इन सब चीज़ों से प्रयोग करना एक साधारण शिक्षक के लिए आसान काम होगा.

क्या मुझे इतिहास के बारे में कुछ बताना ज़रूरी है? मौलिक पांडुलिपियों की फोटोकॉपीस, पुराने अखबारों की कतरनें, महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू के ऑडियो भाषण, इस सभी को एकत्रित करके इतिहास पढ़ाने में इस्तेमाल किया जा सकता है.

सामाजिक विज्ञान में भी प्रयोग करने की तमाम संभावनाएं हैं. छात्र सड़क के भिखारियों से जाकर बातचीत कर सकते हैं. भीख मांगने वाले सरकार के बारे में क्या सोचते हैं? यह वैसा ही प्रयोग है जैसे ओहम्स के नियम की

पुष्टि के लिए प्रयोगशाला में प्रतिरोध का मापन. अगर विज्ञान में आंकड़े इकट्ठे करना ज़रूरी है तो सामाजिक विज्ञान विषयों में भी कई प्रकार के आंकड़े इकट्ठे किये जा सकते हैं.

एक अच्छी बात है - सामाजिक विज्ञान के विषयों के लिए स्कूल को नर-कंकाल का मॉडल नहीं खरीदना पड़ेगा. नर-कंकाल का काम किसी भी इंसान से चल जायेगा - चाहे वो भिखारी, राजनेता, डॉक्टर, या फिर कोई सरकारी अधिकारी ही क्यों न हो. इसपर हम पुस्तक के एक अन्य अध्याय में विस्तार से चर्चा करेंगे.

प्रश्न

प्रिय प्रिंसिपल,

NCERT के प्रोफेसर अनिल सेठी ने एक चर्चा में मुझे बच्चों की परवरिश के बारे में अपने विचार बताये. उनका शिक्षा से सीधा-सीधा सम्बन्ध है. उनके अनुसार माता-पिता अपने बच्चों से अक्सर “वैज्ञानिक प्रश्न” पूछते हैं. मिसाल के तौर पर, “पूरी जब तेल में तली जाती है तो वो क्यों फूलती है, पानी में तलने पर ऐसा क्यों नहीं होता है?” या “इन्द्रधनुष कैसे बनता है?”

फिर उन्होंने बेंगलोर में अपने एक मित्र के बारे में बताया. उनके 13 बरस की बेटी है. जब वो बेंगलोर जाते तब अपने मित्र की बेटी से मिलते और उससे बातचीत करते. वो उससे इस प्रकार के प्रश्न पूछते, “तुम कौन हो?” वो उत्तर देती, “मैं छात्र हूँ.” फिर वो दुबारा पूछते, “तुम किस तरह की छात्र हो?” जिसका वो उत्तर देती, “मैं बहुत मेहनत तो नहीं करती हूँ, पर अपने काम को बहुत ईमानदारी से करती हूँ.” फिर वो उससे “ईमानदारी” का मतलब बताने को कहते. “ईमानदारी” का जवाब मिलने के बाद वो उससे दुबारा पूछते, “पर क्या तुम लड़की नहीं हो?” वो उससे सहमत होती. वो फिर उससे पूछते, “इसका मतलब है कि तुम एक ईमानदारी छात्रा हो?” लड़की उनसे सहमत होती. वो फिर उससे पूछते, “क्या तुम बेंगलोर में रहती हो?” उत्तर में लड़की “हाँ” कहती. वो फिर उससे पूछते, “पर क्या तुम भारतीय नहीं हो?” जिसका जवाब मिलता, “हाँ मैं साथ में भारतीय भी हूँ.” तब वो कहते, “अच्छा फिर इनमें से तुम कौन हो - बेंगलोर की निवासी, भारतीय, लड़की या छात्रा?” इस संवाद से वो लड़की को सोचने के लिए बाध्य करते. उस लड़की ने अपने माता-पिता से कहा, “अनिल अंकल मुझसे बहुत रोचक प्रश्न पूछते हैं!”

भारत-पाक स्टूडेंट एक्सचेंज कार्यक्रम के दौरान मैंने NCERT के भूतपूर्व निदेशक प्रोफेसर कृष्ण कुमार से छात्रों के लिए एक सत्र लेने की विनती की. बातचीत और चर्चा में एक बात सामने उभर कर आई, “ज़्यादातर भारतीय, पाकिस्तान देश से नफरत करते हैं, पर पाकिस्तानी लोगों को चाहते हैं.” फिर चर्चा का मुद्दा बना, “पाकिस्तानी लोग, पाकिस्तान देश से किस तरह भिन्न हैं?” इस सवाल का कोई जवाब नहीं था. इस प्रश्न को छात्रों के सोचने-विचारने के लिए छोड़ दिया गया. भारत और पाकिस्तान दोनों देशों के छात्र अगर इस प्रश्न पर मनन-चिंतन करें तो कितना अच्छा हो.

मेरा कहना है कि बच्चों से जब हम प्रश्न पूछते हैं तो वे अक्सर वैज्ञानिक प्रकृति के सवाल होते हैं. समाज विज्ञान से सम्बंधित प्रश्न हम कभी क्यों नहीं पूछते? इसे अन्य शब्दों में कह सकते हैं - कि हम बच्चों से उनके समाज के बारे में प्रश्न नहीं पूछते हैं. यहाँ उसका एक उदाहरण है. कितने पालकों ने अपने बच्चों से इसमें से एक भी प्रश्न कभी पूछा होगा:

- तुम्हारी माँ किचन में काम करती हैं, पिताजी क्यों नहीं करते?
- घर का काम करने वाली नौकरानी गरीब क्यों हैं, हम क्यों नहीं हैं?
- भारत में इतना भ्रष्टाचार क्यों है?
- सड़कों पर इतने गड्ढे और खड्डे क्यों होते हैं?

ऐसा लगता है कि हम अपने बच्चों से वैज्ञानिक प्रश्न अधिक पूछते हैं, और अगर उत्तर सही मिलते हैं तो हमें गर्व होता है. तब हम सोचते हैं कि एक दिन बच्चा वैज्ञानिक बनेगा और देश की समस्याओं का निदान करेगा. एक बात तो सच है, बच्चा ज़रूर बड़ा होगा. वो एक दिन शायद पानी में पूरियां तलने का तरीका भी खोज निकालेगा, पर वो देश की सड़कों के गड्ढे नहीं भर पायेगा.

एक अन्य रोचक बात है. हम अक्सर वही प्रश्न पूछते हैं जिनके उत्तर हमें पहले से ही पता होते हैं. तथ्यों पर आधारित प्रश्न, जिनके सही-सटीक जवाब भी होते हैं. इसलिए हम जो सामाजिक विज्ञान के प्रश्न भी पूछते हैं वे भी तथ्यात्मक प्रकृति के होते हैं, "किस वर्ष ...?" या "किसने बनाया...." उदाहरण के लिए, "सुभाष चन्द्र बोसे किस वर्ष में कांग्रेस अध्यक्ष बने?" या, "मुस्लिम लीग का संस्थापक कौन था?"

पर सामाजिक विज्ञान की सुन्दरता तथ्यों से परे होती है. जहाँ विज्ञान के तर्क तथ्यों पर आधारित होते हैं (मिसाल के लिए इन्द्रधनुष के पीछे का तर्क) वहीं सामाजिक विज्ञान के तर्क, तथ्यों पर आधारित न होकर, गतिशील होते हैं (मिसाल के लिए 1857 के विद्रोह की असफलता के पीछे के तर्क). हम सामाजिक विज्ञान में गैर-तार्किक प्रश्न पूछने से हमेशा कतराते हैं. क्यों? क्योंकि उनके उत्तर बहुत अलग-अलग हो सकते हैं. यह भी संभव है कि कुछ प्रश्नों के उत्तर किसी को पता ही न हों.

अक्सर हम प्रश्न इसलिए पूछते हैं क्योंकि हमें पहले से ही उनके उत्तर पता होते हैं. सामाजिक विज्ञान के प्रश्न हम पूछने से इसलिए डरते हैं क्योंकि कई सवालों के सही उत्तर अक्सर हमें पता ही नहीं होते. हम वे प्रश्न नहीं पूछते जिनके जवाब हमें नहीं पता हों. जब तक हम अनुत्तरित, अनजान सवाल नहीं पूछेंगे, तब तक इंसानी ज्ञान भला कैसे आगे बढ़ेगा? हम लगातार उन्हीं प्रश्नों को दोहराते हैं जिनके उत्तर पहले से ही सबको पता हैं.

फिर भी ऐसे तमाम प्रश्न हैं जो हमें सोचने के लिए मजबूर करते हैं. इसलिए सामाजिक विज्ञान के गैर-तथ्यात्मक प्रश्न पूछकर आप बच्चों को खुद उनके मौलिक उत्तर खोजने के लिए प्रेरित करते हैं. इस तरह बच्चे नए ज्ञान का निर्माण करेंगे. नहीं तो बच्चे विश्वकोश - समस्त ज्ञान का गोदाम बनने को मजबूर होंगे.

विश्वकोश मुझे अपने स्कूली दिनों की याद दिलाते हैं। वे बच्चे होशियार और अकल्मन्द माने जाते थे जिन्हें दुनिया के सभी देशों की राजधानियां और मुद्राओं के नाम मुहंजुबानी याद होते थे। यह बच्चे प्रश्न-उत्तर स्पर्धाओं (quizzes) में झट-झट उत्तर देते थे। क्या यह बच्चों की होशियारी है? मुझे इस पर शक है।



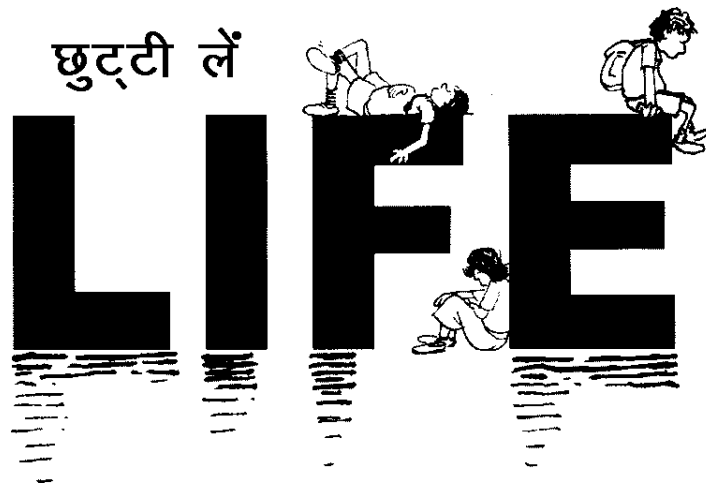
मेरी मित्र जया एक थियेटर आर्टिस्ट हैं। उनके अनुसार किसी अगर व्यक्ति को किसी जानकारी के ज़रूरत हो तो वो उसे आसानी से विश्वकोश में ढूँढ सकता है। अब उसे गूगल पर खोजा जा सकता है। इसके लिए कोई बहुत ज्यादा अकल की ज़रूरत नहीं है। और अगर किसी इंसान के दिमाग में यह सब जानकारी भरी भी हो तो उससे समाज को क्या फ़ायदा होगा? यह बिलकुल कंप्यूटर की हार्ड-डिस्क में भरे “डाटा” जैसा होगा। इसलिए प्रश्न-उत्तर स्पर्धाओं (quizzes) में अच्छा प्रदर्शन करने वाले बच्चे खास होशियार और मौलिक नहीं होते हैं।

तब से मुझे प्रश्न-उत्तर स्पर्धाओं (quizzes) से एक प्रकार की नफरत हो गयी। इंसानों की अकल को मापने के यह एक बेहूदा पैमाना है (विशेषकर शिक्षा के क्षेत्र में)। प्रसिद्ध क्विज-मास्टर डेरेक ओब्रायन और सिद्धार्थ बासु मेरे मत से ज़रूर असहमत होंगे। पर वो चाहें क्विज जैसी स्पर्धायों की कितनी भी तारीफ (विश्लेषण और तत्काल उत्तर देने की क्षमताओं का विकास) क्यों न करें, मैं उनके मत से कभी सहमत नहीं होऊँगा। अंत में क्विज, डाटा को जल्दी से पेश करने की क्षमता है। इससे मैं सहमत हूँ! पी-4 कंप्यूटर, पी-3 कंप्यूटर की अपेक्षा जानकारी या “डाटा” को अधिक तेज़ी से प्राप्त कर पाता है। पर क्या हम मशीन हैं या इंसान? हम मशीन नहीं हैं, क्योंकि हम प्रश्न पूछते हैं, और जब पुराने प्रश्नों का हमें उत्तर मिल जाता है तब हम नए प्रश्न पूछते हैं।

छुट्टी - सोच-विचार का समय

प्रिय प्रिंसिपल,

जीवन की यह असलियत है - हरेक इंसान को कुछ अवकाश चाहिए जिससे वो अपने करे पर मनन-चिंतन कर सके.



हर स्कूल में दोपहर के समय इंटरवेल या मध्यान्ह होता है, जिसमें बच्चे अपना खाना खाते हैं और फिर दुबारा पढ़ाई के लिए तैयार होते हैं. बच्चे दिन में कई विषय पढ़ते हैं और उसके लिए उन्हें कई बातों को समझना पड़ता है. परन्तु स्कूल में बच्चों को यह सोचने का कोई समय नहीं मिलता है कि वो जो कुछ आज पढ़ रहे हैं वो किसी काम का है या नहीं. बच्चों से यह सवाल कोई नहीं पूछता - आज तुम्हें स्कूल में क्या अच्छा लगा, और क्या खराब? आज तुमने क्या सीखा? बस बच्चा दिनभर पढ़ता है और फिर घर जाकर होमवर्क करता है.

ज़रा हम सीखने के चक्र पर नज़र डालें. पहले बच्चे कुछ अनुभव करते हैं - वो सुनते, चखते, छूते हैं, फिर उसपर मनन-चिंतन करके कुछ सीखते हैं. हमारे स्कूलों में बच्चों को केवल बहुत सीमित अनुभव मिलता है - टीचर को सुनने का, और कुछ गतिविधियाँ करने का. हमारी अपेक्षा होती है कि बच्चे उससे कुछ सीखें - बिना उसपर मनन-चिंतन किये.

अगर हम किसी व्यस्क से पूछें कि स्कूल, कॉलेज या यूनिवर्सिटी में उसने जो कुछ पढ़ा था उसका कितना अंश उसे याद है तो वो 10-प्रतिशत से अधिक नहीं होगा. इसका कारण? क्योंकि उन्होंने कक्षा में जो कुछ अनुभव किया उस पर कभी सोच-विचार नहीं किया, इसीलिये दिमाग ने उसे जब्ज नहीं किया और सीख बहुत सतही रही. पुख्ता सीख के लिए मनन-चिंतन बहुत ज़रूरी है.

हमारी मंशा बच्चे के दिमाग में ज्यादा-से-ज्यादा जानकारी और ज्ञान ठूसने की होती है. क्यों न हम बच्चों से पूछें कि आज उन्होंने वाकई में क्या सीखा? इसके लिए हम दो पीरियड खाली रखें. इसमें हम बच्चों को कागज़

/ कलम देकर उनसे उन्होंने जो सीखा उसे लिखने को कहें. बच्चों को चिंतन-मनन करने के लिए समय और फिर उसे प्रस्फुटित करने के लिए भी समय दें.

हम चिंतन-मनन के इस पीरियड को इस उपयुक्त नाम दे सकते हैं - “आज क्या सीखा” पीरियड. इस पीरियड में आज जो पढ़ा उसे दोहराने पर बल नहीं होगा. बच्चों को सोचने की पूरी छूट होगी. बच्चे खुद उस दिन की पढ़ाई के बारे में सोचेंगे. क्या पढ़ाई उन्हें रास आई? क्या वो उनके काम की थी?

मेरी एक मित्र “बच्चों की परवरिश” विषय पर कार्यशालाएं लेती हैं. उनके अनुसार बच्चों को जिन चीज़ों में तात्कालिक मज़ा आता है वे उन्हें सबसे अधिक पसंद आती हैं. इसमें खाना, खेलना और बाकी अन्य चीज़ें भी शामिल हैं. पढ़ाई में इसका बिल्कुल उल्टा होता है. पढ़ते वक्त हम बच्चों से कहते हैं, “पढ़ो, क्योंकि इससे तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल होगा. दुःख इस बात का है कि एक छोटा बच्चा दूर भविष्य की कल्पना नहीं कर पाता है, और इसलिए वो पढ़ाई के लिए प्रेरित नहीं होता है. काश, हम बच्चों को पढ़ने के मज़े का अनुभव करा पाते ...तभी ... और वहीं. तब बच्चे पढ़ाई में ज़रूर रुचि लेते.

इसके लिए चिंतन-मनन करना बहुत महत्वपूर्ण है. बच्चे को खुद सोचने दें. जो कुछ भी वो सीख रहा है क्या वो उसके किसी काम का है या नहीं. हो सकता है बच्चा जो वो पढ़ रहा हो वो उसे बिल्कुल बकवास लगे, और उसकी वो पढ़ने में कोई रुचि न हो. याद रखें, यह बच्चे की सच्चाई है. पर अगर हम बच्चे को सीखने की आजादी दें तो वो खुद वो चुनेगा जिसमें उसकी रुचि होगी, और फिर उसे पूरा मन लगा कर सीखेगा.

अच्छा हो अगर हम परीक्षाओं को चिंतन-मनन के सत्र में बदलें. ज़रा इस पर विचार करें. दो महीने की पढ़ाई के बाद बच्चों को परीक्षा की बजाये एक कागज़ पेन दें. बच्चे लिखें कि उन्होंने पिछले दो महीने में क्या सीखा?

इसमें किसी के फेल होने की बात ही नहीं है. बच्चे केवल वो लिखें जो वे जानते हैं, और उसके बारे में अपनी राय भी लिखें. शायद कोई ऐसा भी बच्चा हो जो पढ़ाई के बारे में कुछ नहीं लिखे - शायद वो पढ़ाई को समय की बर्बादी बताये. इससे टीचर को बच्चे का मानस समझ में आएगा. तब उस बच्चे को पढ़ने के अन्य तरीकों पर गौर किया जा सकता है. बच्चे जो मज़ी चाहें लिखें, जो वो सोचते हैं वो लिखें.

हमारे देश में बच्चे नर्सरी कक्षा से बारहवीं तक, क्लास-दर-क्लास परीक्षाओं के बल पर आगे बढ़ते जाते हैं और उसके तुरंत बाद कॉलेज में प्रवेश लेते हैं. इस सिस्टम में कहीं भी बीच में बच्चा अवकाश नहीं ले सकता है. वो जीवन में क्या करना चाहता है, यह सोचने की उसे छूट नहीं है.

मेरा सुझाव है कि 15 वर्ष स्कूल में बिताने के बाद छात्रों को एक साल का अवकाश लेना अनिवार्य होना चाहिए. साल भर की इस छुट्टी में वो चाहें तो अपने स्कूल के अनुभवों पर एक पुस्तक लिख सकते हैं - जिसमें उन्हें काफी सोच-विचार करना होगा. वो चाहें तो इस अवकाश में अपनी मनपसंद की चीज़ें कर सकते हैं, या अपने जीवन के बारे में गहराई से सोच सकते हैं.

एक स्वयंसेवी संस्था ने “गैप इयर कॉलेज” नाम का प्रकल्प शुरू किया था. बारहवीं की परीक्षा के बाद छात्र पहाड़ियों में स्थित इस संस्था में एक साल चिंतन-मनन कर सकते थे. छात्र वहां स्थानीय ग्रामीण प्रकल्पों में भाग लेते और ज़िन्दगी में वे क्या करना चाहते हैं, इस पर सोच-विचार करते. वो अपनी कुशलतायों में इजाफा करते. वो ज़िन्दगी में क्या करना चाहते थे, उस बारे में प्रयोग करते. यह एक प्रकार की प्रयोगशाला थी जहाँ वे अपनी रुचियों और अपेक्षाओं को परखते थे. समझ हासिल करने के बाद वे अपने लक्ष की ओर बढ़ते. हमारे यहाँ इस तरह के कई “गैप इयर कॉलेज” की बहुत ज़रूरत है.

कुछ लोग चिंतन-मनन को उत्पादक काम नहीं, समय की बर्बादी मानते हैं. पर सोच-विचार वो विलक्षण कार्य है जो केवल मनुष्य ही कर सकते हैं. चिंतन-मनन से हम लोगों की ज़िन्दगी और शिक्षा की कई समस्याओं को सुलझा सकते हैं. शिक्षा तंत्र में अगर बच्चों के चिंतन-मनन के लिए स्थान हो, जहाँ वे अपनी रुचियों और अपेक्षाओं पर सोच-विचार कर सकें तो उससे उन्हें बहुत फायदा होगा. आत्म-चिंतन ऐसे कुशलता है जिसे बच्चों को जीवन भर करना चाहिए. रोज़मर्रा डायरी लिखना इसका अहम् काम है. कई स्कूल इसके लिए सुबह-सुबह बच्चों के समूहों के साथ समय गुजारते हैं. पर इसे हमें और करना चाहिए.

ग्यारहवीं-बारहवीं के बच्चों को अपना व्यवसाय चुनना होता है. उस समय उन्हें यह सोचना चाहिए की जो पेशा वो चुन रहे हैं क्या वो उनके अपने निर्णय पर आधारित है या फिर वो दूसरों की अपेक्षाओं से प्रभावित है. इसमें स्कूल का काउंसलर बहुत मददगार साबित हो सकता है.

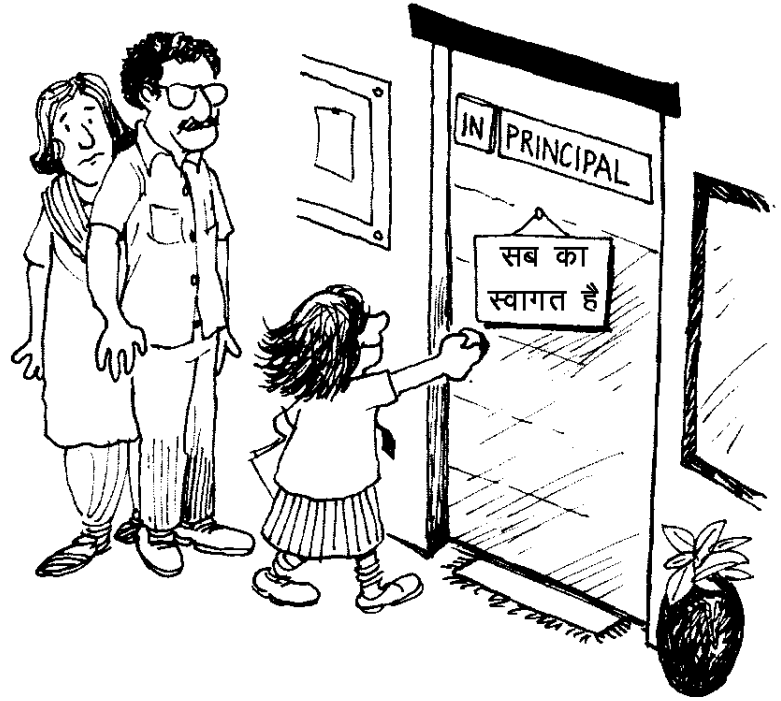
चिंतन-मनन शायद स्कूल की प्रार्थना से ज्यादा प्रभावकारी साबित हो सकता है.

प्रिंसिपल

प्रिय प्रिंसिपल,

यहाँ मैं स्कूल के सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति के बारे - यानि प्रिंसिपल के बारे में अपने विचार व्यक्त करना चाहूँगा. मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ की किसी स्कूल में सबसे महत्वपूर्ण “बच्चे” होते हैं. यह बात चाहें कहने में अच्छी लगे पर हरेक इंसान स्कूल के सबसे शक्तिशाली व्यक्ति को अच्छी तरह जानता है.

वैसे तो प्रिंसिपल के नाम से कई बातें जुड़ी होती हैं. इनमें सबसे पहला है उनका कमरा, जो अक्सर प्रिंसिपल के ऑफिस के नाम से जाना जाता है. यह वो कमरा है जिससे सब बच्चे और टीचर दूर रहना चाहते हैं. इस कमरे में घुसते समय लोगों का पसीना छूटने लगता है. केवल बच्चों के माँ-बाप ही इस कमरे में दाखिला पाने के लिए बेकरार रहते हैं. पालकों के लिए इस कमरे में दाखिला पाना और प्रिंसिपल से मिल पाना एक दुश्वार काम होता है. जो माँ-बाप प्रिंसिपल के दफ्तर में जाने को बेताब होते हैं उन्हें बाहर रखा जाता है, और जो टीचर उस कमरे से दूर रहना चाहते हैं, उन्हें वहां तुरंत हाज़िर किया जाता है.



ज़रा प्रिंसिपल के कमरे के अन्दर के माहौल पर नज़र डालें. सबसे पहले आपको वो ढेरों ट्रॉफीस और मेडल्स दिखेंगे जिन्हें स्कूल ने जीता है. कुछ पुराने स्कूलों के प्रिंसिपल्स अपने ऑफिस के सामने एक विशेष स्थान पर इन ट्रॉफीस और मेडल्स को प्रदर्शित करते हैं.

सामान्यतः प्रिंसिपल का कमरा स्कूल का सबसे बड़ा कमरा होता है. उस कमरे में अक्सर महात्मा गाँधी या किसी अन्य राष्ट्रीय नेता का फोटो लटका रहता है. किसी जानी-मानी शक्सियत से अवार्ड प्राप्त करते प्रिंसिपल के फोटो भी दीवारों को सुशोभित करते हैं. रोचक बात है, मैंने आजतक किसी प्रिंसिपल के दफ्तर में मारिया मॉटेसरी या अन्य किसी प्रसिद्ध शिक्षाविद के फोटो नहीं देखे. यह तब है जब कई स्कूलों के नाम में “मॉटेसरी” शब्द जुड़ा होता है.

ढेरों ट्रॉफीस से भरा प्रिंसिपल का दफ्तर दरअसल किसी शिक्षाविद का कमरा नहीं पर एक “सरकारी” कमरा दिखता है. प्रिंसिपल के कमरे में होने वाली बातचीत भी काफी रोचक होती है. उसमें बच्चों के दाखिले, समारोहों का आयोजन, छुट्टियाँ, बिजली-बिल और मुख्य-अतिथि के स्वागत की तैयारियों पर चर्चा होती है. वहां शिक्षा और शिक्षण पद्धति पर सबसे कम चर्चा होती है. दुर्भाग्यवश, प्रिंसिपल स्कूल का प्रमुख प्रशासक भी होता है, और उसका ज्यादातर समय प्रशासन में ही बीतता है.

पर हमें तसल्ली के साथ एक अहम् सवाल ज़रूर पूछना चाहिए, “स्कूल की सबसे महत्वपूर्ण गतिविधि क्या है?” मुझे विश्वास है की 90-प्रतिशत लोगों का जवाब होगा, “पढ़ना और सीखना”. इस तर्क के आधार पर प्रिंसिपल के कमरे में 90-प्रतिशत बातचीत “पढ़ने और सिखाने” से सम्बंधित होनी चाहिए. पर होता कुछ और ही है.

कई प्रिंसिपल पूछेंगे, “अगर मैं प्रशासनिक काम न करूं, तो भला स्कूल कैसे चलेगा?” पर स्कूल के प्रशासन का काम कई और लोग संभाल सकते हैं. स्कूल का प्रशासनिक मैनेजर इनमें से कई महत्वपूर्ण काम कर पायेगा.

प्रिंसिपल स्कूल में कई बहुत ज़रूरी काम करते हैं. पर जो सबसे अहम् काम है वो करने से चूक जाते हैं. वो काम है बच्चों को पढ़ाने का. सामान्यतः प्रिंसिपल बच्चों को पढ़ाते नहीं हैं - यह काम प्रिंसिपल के लिए अनावश्यक समझा जाता है. रोचक बात यह है - स्कूल में जिसका ओहदा सबसे ज्यादा होता है, वो सबसे कम पढ़ाता है. अगर कोई टीचर कम पढ़ाता है तो इसके मतलब हैं वो सफलता की सीढ़ी चढ़ रहा है. मैं ऐसे बहुत कम प्रिंसिपल्स को जानता हूँ जो वाकई में बच्चों को पढ़ाते हों.

कुछ वर्ष पहले मैं ग्वालियर स्थित सिंधिया स्कूल एक कार्यशाला में गया था. वहां के प्रिंसिपल श्री तिवारी के साथ मीटिंग छोटी पर अच्छी रही. कुछ देर बाद तिवारीजी मुझे हाथ में “डस्टर और चाक” लिए गैलरी में दिखे. मैंने पूछा, “आप कहाँ चले?” उन्होंने जवाब दिया, “केमिस्ट्री की क्लास लेने जा रहा हूँ.” कितनी अच्छी बात है - देश के सबसे प्रतिष्ठित स्कूल के प्रिंसिपल का बच्चों को पढ़ाना. बाद में तिवारीजी ने बताया कि अगर वो बच्चों को न पढ़ाएं तो फिर उन्हें स्कूल में मज़ा नहीं आएगा.

इस किताब को लिखते समय मैंने तिवारीजी से दुबारा संपर्क स्थापित करने की कोशिश की. वो प्रिंसिपल की हैसियत से रिटायर हो गए थे, और फिर उन्होंने सिंधिया एजुकेशन सोसाइटी का प्रशासनिक कार्यभार संभाला था. मैंने छात्रों का न्यूज़-लैटर देखा जिसमें रिटायर होने के बाद उन्होंने तिवारीजी का इंटरव्यू लिया था. उसमें अंतिम प्रश्न था, “सिंधिया स्कूल की अगली यात्रा में आप सबसे पहले कहाँ जाना चाहेंगे?” तिवारीजी के जवाब का अनुमान मुझे पहले ही से था, “मैं क्लास में जाकर बच्चों को पढ़ाना चाहूँगा.” हमें श्री निर्मल तिवारी जैसे अनेक आदर्श प्रिंसिपलों की ज़रूरत है.

सलवान पब्लिक स्कूल, दिल्ली की श्रीमती पुरी आदर्श प्रिंसिपल भी इसका एक जीता-जागता उदाहरण हैं. वो अंग्रेजी भी पढ़ाती हैं. पर सामान्यतः स्कूल के प्रिंसिपल खुद पढ़ाने का काम नहीं करते हैं. अक्सर प्रिंसिपल, पढ़ाई के बारे में लम्बे भाषण देते हैं. पर वे क्लास में जाकर कभी खुद नहीं पढ़ाते हैं. वे मुआइना करने के लिए स्कूल का चक्कर लगाते हैं. अगर प्रिंसिपल अपने ऑफिस में न हों तो उसका मतलब है कि वो अपने साम्राज्य के मुआइने पर हैं - यह मालूम कर रहे हैं कि उनकी रियासत में सब खुश तो हैं. इसमें प्राइमरी सेक्शन में जाकर कुछ छोटे बच्चों को प्यार से पुचची देना और टीचर्स को उनके क्लास की गन्दगी से अवगत करना शामिल होता है. सीनियर क्लासेज में जाकर प्रिंसिपल कुछ बड़े बच्चों को सलाह देते हैं और उस क्लास में शोर के लिए टीचर को डांटते हैं. दौरे के तुरंत बाद प्रिंसिपल अपने कमरे में तीन टीचर्स, एक माली, दो स्कूल की आया और एक सिक्यूरिटी गार्ड को तलब करते हैं.

ज्यादातर प्रिंसिपल्स में एक पूरे पीरियड की लम्बी अवधि तक क्लास में बैठने का सब्र नहीं होता है. मैं प्रिंसिपल्स की एक खासियत का तो जिक्र करना ही भूल गया. वो जहाँ जाते हैं सिर्फ बोलते हैं. शायद वो सिर्फ बोलना ही जानते हैं. बिरले ही प्रिंसिपल सुनना जानते हैं.

बहुत कम ऐसे प्रिंसिपल हैं जो कभी स्टाफ-रूम में जाते हों. मेरा उद्देश्य प्रिंसिपल्स के खिलाफ मुहिम खड़ा करना नहीं है. कितना अच्छा होता अगर स्कूल का सबसे शक्तिशाली व्यक्ति - प्रिंसिपल खुद सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में शामिल होता. अगर ऐसा होता तो स्कूल में शिक्षा का स्तर सुधरता. एक कॉल-सेंटर के सुपरवाइजर जैसे अगर प्रिंसिपल भी, अपने पूरे स्टाफ का ध्यान रखता तो बहुत अच्छा होता.

काश सबसे अच्छा टीचर स्कूल का प्रिंसिपल बनता. वो केवल भाषण नहीं देता, पर अपने उदाहरण से स्कूल में चार चाँद लगाता. एकाउंट्स प्रतिनिधि या एक पालक से प्रिंसिपल के न मिल पाने से कोई अनर्थ नहीं होता. हरेक से प्रिंसिपल मिले यह ज़रूरी नहीं. इस काम के लिए स्कूल को किसी मैनेजर या कौन्सिलर को नियुक्त करना चाहिए. प्रिंसिपल का ऑफिस, बिल्कुल स्टाफ-रूम जैसा होना चाहिए - जो "एक्शन" से और बच्चों से भरा हो. मुझे नयी दिल्ली के वसंत कुंज स्थित टैगोर इंटरनेशनल स्कूल में जाने का मौका मिला. वहां प्रिंसिपल का कमरा काफी छोटा था, माहौल बहुत अच्छा था. कोई भी आसानी से प्रिंसिपल के कमरे में जा सकता था. ऑफिस "एक्शन" से भरपूर था. कितना अच्छा हो अगर हमारे स्कूलों के प्रिंसिपल्स शिक्षाविद हों, प्रशासक नहीं.

लाइब्रेरी

प्रिय प्रिंसिपल,

स्कूल की लाइब्रेरी को एक बहुत पवित्र स्थान माना जाता है. बच्चों को वहां बिल्कुल चुप्पी साधे बैठना पड़ता है. लाइब्रेरी में चुपचाप बैठ कर बच्चे केवल किताबें पढ़ सकते हैं. मेरे स्कूल के दिनों में हमें पहले लाइब्रेरियन से किताब मांगनी पड़ती थी. उसके बाद ही हम उसे पढ़ सकते थे. शेल्फ से खुद जाकर किताब चुनने की, उसके पन्ने पलटने की, और नापसंद आने पर उसे वापिस रखकर दूसरी किताब लेने की छूट हमें नहीं थी.

अब के हालत पहले से कहीं बेहतर हैं. बहुत से स्कूलों में अब पुस्तकें खुली अलमारियों में सजी होती हैं और बच्चे मनमर्जी से उन्हें चुन सकते हैं. पर अभी भी लाइब्रेरी एक नवयुवा बच्चे के लिए कोई आकर्षक जगह नहीं है. आजकल स्कूलों में तमाम पुस्तक-सत्र और पुस्तक-सप्ताह आयोजित किये जाते हैं. इससे लगता है कि पाठकों की संख्या बढ़ रही है. पर इससे फिर भी, बच्चों को पुस्तक-प्रेमी बनाने का प्रेरक माहौल नहीं बना है.

अपने नवयुवा बच्चों में, हम पुस्तकों के लिए कैसे लगाव पैदा करें?



इसके लिए अच्छा हो की हम लोगों की आदतों से शुरू करें. लोग पुस्तकें क्यों पढ़ते हैं? अगर हम उन कारणों की सूची बनायें तो वो कुछ-कुछ ऐसी होगी. पहला कारण - शायद किसीने आपको पुस्तक का छोटा अंश सुनाया हो और कहा हो कि आपको वो किताब पढ़ने में बहुत मज़ा आएगा. वो अनुभव आपको याद रहेगा और संभव है अगली बार आप उस किताब को उठा कर पढ़ने के लिए प्रेरित हों. दूसरा कारण - जब किसी पुस्तक की कहानी पर आधारित फिल्म रिलीज़ होती है, तब बहुत से लोग उस किताब को पढ़ने के लिए प्रेरित होते हैं. तीसरा कारण - आपकी उस विषय में गहरी रुचि हो.

यह समझना ज़रूरी है कि पुस्तक वाचन हमेशा एक व्यक्तिगत काम होता है. वो एक सामूहिक गतिविधि नहीं होती. कोई किताब इसलिए पढ़ता है क्योंकि उसे पढ़ने में बहुत बड़ा मज़ा आता है. पुस्तकों में आप बच्चों की रुचि अवश्य ज़रूर जगा सकते हैं. पर उससे पहले आप बच्चों की रुचियों को जानें और पहचानें. उसके आधार पर बच्चों को ढेरों किताबें उपलब्ध कराएँ. हमें यह अच्छी तरह समझना चाहिए की औसत बच्चे की रुचि "मर्चेंट ऑफ़ वेनिस" और "ओलिवर ट्विस्ट" जैसी क्लासिक किताबें पढ़ने में नहीं होती है.

हम अक्सर लाइब्रेरी को कहानियों की किताबों का स्थान समझते हैं, क्योंकि बाकी पुस्तकें तो अलग-अलग विषयों से जुड़ी होती हैं. क्या हमने बच्चों के लिए ऐसे साहित्य की कल्पना की है जो कहानियों और उपन्यासों से अलग हो?

ऐसी पुस्तकें जो चीज़ें बनाना सिखाती हूँ, गतिविधियों, साहसिक कारनामों और यात्राओं के बारे में हों.

अगर गेम्स-क्लास में बच्चों को क्रिकेट में बैटिंग और बोलिंग की तकनीकी पुस्तकों से परिचित कराया जाये तो कितना अच्छा हो? इस विषय पर सैकड़ों पुस्तकें हैं और अगर उनका परिचय खेल के मैदान में कराया जाए तो कितना अच्छा हो? इसका मतलब है कि एक अच्छे लाइब्रेरियन को अपनी कुर्सी छोड़ कर लाइब्रेरी से बाहर भी निकलना चाहिए. अगर लाइब्रेरियन, क्रिकेट के मैदान में, बच्चों को सुनिल गावस्कर की पुस्तक “*सनी डेज*” और सचिन तेंदुलकर की जीवनी दिखायेगा तो बच्चों को बहुत आनंद आएगा. अगर लाइब्रेरियन पेड़-पौधों, पक्षियों की फील्ड-गाइड्स को बाग में ले जाकर बच्चों से परिचय कराए तो कितना अच्छा हो?

ऐसा करते समय शायद कुछ किताबें खराब भी हो जाएँ. फिर भी यह काम करने लायक है. हो सकता है जिस किताब से आपने बच्चों का परिचय कराया है, वो तुरंत उन्हें ढूँढ़ते हुए लाइब्रेरी में आ जाएँ. बच्चों में किताबों के प्रति प्यार पैदा करने के लिए हम ऐसे कई नायाब तरीके खोज सकते हैं.

हमें यह भी समझना चाहिए कि लोग एकदम मोटी पुस्तकें पढ़ना शुरू नहीं करते. पहले वे अखबार और पत्रिकाएं पढ़ते हैं, फिर छोटी कहानियां, और उसके बाद ही उन्हें गंभीर साहित्य पढ़ने का चस्का लगता है. स्कूल के पुस्तकालय में “*इंडिया टुडे*” और “*आउटलुक*” जैसी पत्रिकाओं की जगह ढेरों बच्चों की पत्रिकाएं होनी चाहिए. कई बाल-पत्रिकाएं बिक्री के अभाव में, बंद होने की कगार पर हैं. यह वक्त की मांग है कि पुस्तकालय बच्चों की पत्रिकाएं खरीदकर उन्हें प्रोत्साहित करें.

नियमित रूप से युवा भारतीय लेखों को स्कूल में आमंत्रित किया जाये. लेखक बच्चों को बताएं कि उन्होंने कैसे लिखना शुरू किया. देश में शायद ही कोई प्रगतिशील स्कूल हो जिसने आज तक किसी युवा लेखक को भाषण देना के लिए बुलाया हो. रस्किन बांड जैसे प्रसिद्ध लेखक को स्कूल बहुत गौरव के साथ बुलाते हैं. पर उनकी उम्र बहुत ज्यादा हो गयी है. कितना अच्छा हो अगर स्कूल युवा लेखकों को आमंत्रित करें क्योंकि ऐसे युवा लेखकों की देश में कोई कमी नहीं है.

क्यूं न होम-साइंस की क्लास में बच्चों का “कुकरी” (पाक-शास्त्र) की पुस्तकों से परिचय कराया जाये? या फिर विज्ञान प्रयोगशाला में “*विज्ञान के मजेदार प्रयोग*” जैसी किताबें बच्चों को दी जाएँ. इतिहास की ज्यादातर किताबों में कोई चित्र नहीं होते हैं. ऐसी किताबें मंगाई जाएँ जिनमें गाँधी, भगत सिंह आदि के पुराने ऐतिहासिक चित्र हों. उनसे इतिहास का शिक्षण ज़रूर रोचक बनेगा. इसके लिए लाइब्रेरियन, इतिहास के टीचर के साथ चर्चा करे. क्या यह काम बहुत कठिन है?

जस्टिस लीला सेठ ने हाल ही में सात साल जितने छोटे बच्चों के लिए, भारतीय संविधान की प्रस्तावना लिखी है. किताब बहुत रोचक है और उसमें गज़ब के चित्र हैं. ऐसी किताबें “नागरिक-शास्त्र” के लिए बहुत उपयुक्त होंगी.

लाइब्रेरी में जो विभिन्न विषयों की किताबें प्रदर्शित की जा सकती हैं - खेल-कूद, इतिहास से लेकर सिविल्स (नागरिक-शास्त्र) की.

ग्लेशियर (हिमनद) जैसी विशेषताओं को कक्षा में पढ़ाना मुश्किल होता है। ज्यादातर किताबों में ग्लेशियर के मौलिक चित्र नहीं होते। हो सकता है कि प्रकाशकों के पास उन्हें दुबारा छापने की अनुमति और फीस ही न हो। अगर "नेशनल जियोग्राफिक" द्वारा छापी कुछ रंगीन सचित्र पुस्तकों को क्लास में रखा जाये तो उससे ज़रूर फर्क पड़ेगा। उनके पन्ने पलटने और पढ़ने के लिए शायद बच्चे बार-बार लाइब्रेरी में आयें।

कई स्कूलों में साहित्य क्लब भी होता है, पर अक्सर वहां बहुत गंभीर और उबाऊ चर्चा होती है। कई साहित्यिक लेखकों की जीवन कहानियां बच्चों की पुस्तकों में पहले से ही मौजूद होती हैं। साहित्य क्लब में उन्हीं उबाऊ बातों को परोसने से बच्चों की साहित्य में रुचि पूरी तरह खत्म हो जाएगी। बच्चों को खुद उनकी पसंद की पुस्तकें चुनने दें। हम बच्चों को प्रसिद्ध पुस्तकों पर बनी फिल्में दिखाएँ। फिल्म दिखाने की बाद बच्चों का उस पुस्तक से परिचय करवाने का कार्यक्रम ज़रूर सफल होगा।

बच्चों की पढ़ने में रुचि जगाने का कॉमिक्स एक अच्छा जरिया है। बच्चों को कॉमिक्स में बड़ा मज़ा आता है। कई प्रकाशक फ्रेंच-क्रांति, जंगल-अधिकार आदि विषयों पर पुस्तकें छाप रहे हैं। अब ग्राफिक-नॉवेल भी धड़ल्ले से छप रहे हैं। कितना अच्छा हो अगर लाइब्रेरीज भारी-भरकम और महंगे विश्वकोषों की बजाये कॉमिक्स और ग्राफिक-नॉवेल खरीदें। बहुत कम बच्चे ही विश्वकोष पढ़ते हैं।

अच्छा लाइब्रेरी प्रबंधक होने की कुशलता के आधार पर ही हमें लाइब्रेरियन को नहीं नियुक्त करना चाहिए। यह ज़रूरी है कि लाइब्रेरियन बच्चों में किताबों के प्रति प्यार पैदा कर सके।

स्कूल समुदाय और समाज

प्रिय प्रिंसिपल,

सामान्यतः स्कूल समुदाय में, स्कूल के बच्चे और शिक्षकों को शामिल किया जाता है। इस समुदाय में बच्चों और टीचर्स पर ही ज्यादा जोर होता है। बच्चों के माता-पिता और स्कूल के आसपास रहने वाले लोगों को "स्कूली समुदाय" का हिस्सा नहीं माना जाता है।

सुरक्षा और अन्य कारणों से स्कूल को जानबूझ कर समुदाय से अलग रखा जाता है। माता-पिता की किसी भी पहल को, स्कूल दखलंदाजी मानता है। पालक-टीचर्स मीटिंग के समय ही स्कूल में माता-पिता का स्वागत होता है। इस मीटिंग में माता-पिता को उनके बच्चों के "रिजल्ट्स" दिखाए जाते हैं, जो अक्सर माता-पिता ने पहले ही देखे होते हैं। मीटिंग में टीचर्स, माता-पिता को बच्चे की प्रगति और विकास के बारे में कुछ फीडबैक भी देते हैं।

प्रिंसिपल और टीचर्स, पालकों को स्कूल के लिए एक "खतरा" मानते हैं। इसमें कुछ सच्चाई भी है .. कुछ पालक ऐसे होते भी हैं। पर इस वजह से आप सभी पालकों को स्कूल से बाहर नहीं रख सकते हैं।



दरअसल, माता-पिता एक बहुत बड़ा साधन-स्रोत हैं, जिनकी क्षमताओं का स्कूल उपयोग नहीं कर पाया है। यह कहना गलत नहीं होगा कि बच्चा या तो “स्कूल” में होता है, या फिर वो “होम-स्कूल” यानि अपने माता-पिता के साथ होता है। माता-पिता का बच्चे पर उतना ही प्रभाव होता है, जितना स्कूल में टीचर का होता है। इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि दोनों की समझ में एकात्म और सामंजस्य हो।

पालक स्कूल में जाने को बहुत इच्छुक होते हैं, पर अक्सर उन्हें स्कूल के बाहर रखा जाता है। कितना अच्छा हो, अगर स्कूल में “टीचर्स-डे” जैसे ही “पालक-दिवस” मनाया जाये। “पालक-दिवस” पर स्कूल में पालकों की दौड़ आयोजित की जा सकती है। उस दिन स्कूल के सांचालन का ज़िम्मा 100 पालकों को सौंपा जा सकता है। इससे कक्षाओं में नयी विविधता आएगी, ऐसे नवाचार देखने को मिलेंगे जिनकी किसी न कल्पना भी नहीं की होगी।

माता-पिता के पास स्कूल को देने को बहुत कुछ है। कुछ लोगों के अनुसार - माता-पिता “गलत” या “विरोधी” जानकारी दे सकते हैं। पर यह तर्क तो स्कूल के टीचर्स पर भी लागू होता है। कितनी ही बार स्कूल टीचर्स ने बच्चों को “गलत” जानकारी दी है?

मेरे एक मित्र स्कूल में दादा-दादियों, नाना-नानियों को एक स्रोत-साधन के रूप में उपयोग करना चाहते हैं। वो उन्हें शिक्षकों या किसी अन्य रोल (केवल कहानी सुनाने के लिए) में इस्तेमाल करना चाहते हैं। अमरीका के प्रसिद्ध शिक्षाविद सर केन रोबिनसन ने अपने भाषण (TED टॉक) में अपने इस प्रयोग का ज़िक्र भी किया है।

कई स्कूल “नाना-नानी दिवस” मानते भी हैं। पर मेरा सुझाव है कि स्कूलों को अपने समुदाय के संसाधनों को कहीं ज्यादा इस्तेमाल करना चाहिए। और साल में एक बार आयोजित करने की बजाये उन्हें बार-बार और लगातार करना चाहिए।

आजकल बहुत से स्कूल “करियर-मेले” आयोजित करते हैं। कौन सा पेशा चुनें उसके लिए बच्चों को तमाम टेस्ट लेने पड़ते हैं। पर अभी भी स्कूल इस काम को ठीक तरह से नहीं कर पाए हैं। अगर आप इसे सामुदायिक नज़रिए से देखें तो स्कूल में सभी माता-पिताओं की लम्बी सूची होगी। स्कूल को यह भी पता होगा कि कौन पालक किस पेशे में है - डॉक्टर, इंजिनियर, व्यापारी, उद्योगपति या फौज में है।

पालकों की इस लम्बी सूची में से स्कूल चुनकर “पेशों” के लिए एक विशेषज्ञ-दल गठित कर सकता है। एक डॉक्टर पालक क्लास में आकर बच्चों को “डाक्टरी” पेशे के बारे में बता सकता है। जो माता-पिता आर्किटेक्ट, व्यापारी, चार्टर्ड अकाउंटेंट और अन्य पेशों में हैं, वे भी इन पेशों के बारे में बच्चों को बता सकते हैं। पेशेवर लोगों से बच्चों को जो ठोस जानकारी हासिल होगी वो कोई “करियर-गाइड” बच्चों को नहीं दे पायेगा। “करियर कोउन्सिलर” ने वो पेशा खुद नहीं जिया होता है, उसकी जानकारी बासी होती है।

स्कूल, अलग-अलग पेशों के 50 माता-पिता के दल को चुन सकता है और एक-एक करके यह माँ-बाप हर हफ्ते बच्चों को विभिन्न पेशों के बारे में विस्तृत जानकारी दे सकते हैं। इससे एक ओर पालकों की भागीदारी बढ़ेगी, माँ-बाप संतुष्ट होंगे और बच्चों का स्वाभिमान बढ़ेगा, और इस सबमें स्कूल को कुछ खर्च नहीं करना पड़ेगा।

माता-पिता के साथ-साथ स्कूल अपने समाज के साथ भी एक सार्थक रिश्ता जोड़ सकता है। कई स्कूल अपने स्थानीय सांसद या डिप्टी कमिशनर को वार्षिकोत्सव वाले दिन स्कूल में पुरस्कार वितरण के लिए बुलाते हैं। पर क्या एक भी स्कूल ने कभी सांसदों को, स्कूल में बच्चों को प्रजातंत्र, चुनाव-प्रक्रिया या विधायक-मंडल - संविधान के इन स्तंभों के बारे में बताने के लिए बुलाया है? अच्छा हो अगर स्कूल डिप्टी कमिशनर को स्कूल में बुलाये बच्चों को यह बताने के लिए कि हमारे देश का शासन-प्रबंध कैसे चलता है? अगर आप गौर से देखें तो आप पाएंगे कि समाज का हरेक व्यक्ति स्कूल की शिक्षा में कुछ-न-कुछ योगदान दे सकता है, और इस प्रक्रिया में स्कूली-समुदाय का हिस्सा बन सकता है। कबाड़ीवाले से लेकर म्युनिसिपल सभासद तक, यह सभी लोग स्कूल के लिए अच्छा स्रोत-साधन बन सकते हैं। यह लोग भाषण और पुरस्कार वितरित नहीं करेंगे, पर फिर भी स्कूल को बहुत फायदा पहुंचाएंगे।

एक स्कूल ने गणतंत्र-दिवस को नए तरीके से मनाने की पहल की जिसमें समाज की काफी भागीदारी थी। मैंने भी उस प्रयोग में हिस्सा लिया। 26 जनवरी को भारत का संविधान पारित हुआ। उस दिन हमने संविधान के तीनों स्तंभों - कार्यकारी, विधायक और न्यायतंत्र के एक-एक प्रतिनिधि को आमंत्रित किया - एक स्थानीय जज, सांसद, और कमिशनर को बुलाया। तीनों ने विस्तार से बच्चों से बातचीत की और उन्हें इन तीनों स्तंभों के बारे में, और उनके बीच के रिश्तों के बारे में समझाया। इस तरीके द्वारा स्कूल समाज के अन्य लोगों को अपने साथ जोड़ सका, और साथ में गणतंत्र-दिवस के दिन को एक नया अर्थ मिला। इस आयोजन में कोई पैसा खर्च नहीं हुआ, और इसे सफलता के साथ देश के सभी हिस्सों में लागू किया जा सकता है।

हम स्कूल में राजनैतिक पार्टियों के स्थानीय प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित करना चाहते थे. हम चाहते थे कि ये लोग स्कूल में पार्टी का प्रचार न करें, बल्कि बच्चों को इलेक्शन, चुनाव-प्रचार, नामांकन-पत्र आदि के बारे में बताएं. स्कूल के कई शिक्षकों ने इलेक्शन-ड्यूटी में भाग लिया होता है. वे भी अपने अनुभवों को बाँट सकते हैं.

मैं सोचता हूँ कि समाज के लोगों, खासकर कॉलेज के पढ़े-लिखे युवा लोगों का स्कूल के साथ रिश्ता जुड़े और उससे स्कूली शिक्षा बेहतर बने. एक प्रोजेक्ट में बच्चों को उद्योग लगाने के लिए बिज़नेस-प्लान्स बनाने थे और उन्हें अमल में लाने के लिए उन्हें बाज़ार में अपने स्टाल्स लगाने थे. इसके लिए हमने मैनेजमेंट इंस्टिट्यूट IIM लखनऊ के छात्रों को भी शामिल किया. IIM के छात्रों ने बच्चों के बिज़नेस-प्लान्स का विश्लेषण किया. इस पूरे अभ्यास में सबको बहुत मज़ा आया.

स्कूल के युवा बच्चे, कॉलेज के छात्रों को एक खास रूप में देखते हैं. वो उन्हें श्रद्धा और भय से देखते हैं. प्रोजेक्ट के दौरान हमें यह साफ़ दिख रहा था. ज़रा कल्पना करें - फाइन-आर्ट्स कॉलेज के छात्र कुछ समय स्कूली बच्चों के साथ आकर बिताएं. या फिर स्थानीय इंजीनियरिंग कॉलेज के छात्र स्कूल के बच्चों के साथ अपने अनुभव बाँटें. इसी प्रकार मेडिकल, फैशन डिजाइन, होटल मैनेजमेंट के छात्रों की मुलाकात स्कूली बच्चों से करायी जा सकती है. इससे स्कूल में पढ़ाई का माहौल बेहतर बनाने में मदद मिलेगी.

स्कूलों को समाज की सहायता की बहुत ज़रूरत है. प्रोफेसर कृष्णा कुमार ने प्रसिद्ध शिक्षाविद जॉन दुई की कल्पना की चर्चा की थी. जॉन दुई के अनुसार सार्थक शिक्षा के लिए यह ज़रूरी है कि समाज का प्रत्येक सदस्य स्कूलों में बच्चों के साथ कुछ घंटे अवश्य बिताये. जॉन दुई के बरसों पुराने इस सपने को अब साकार करने का समय आ गया है.

स्कूल के बच्चे बाहर के लोगों से मिलें इसका तो स्वागत है. साथ-साथ स्कूल भी समाज के सदस्यों के लिए अपने दरवाज़े खोलें और हमारे बच्चों की शिक्षा में अपना योगदान दें.

प्रेक्टिकल पीरियड

प्रिय प्रिंसिपल,

वैसे तो स्कूल के शिक्षक बच्चों को अनेकों कुशलताएँ सिखाते हैं, पर मुझे तब बहुत दुःख होता है जब बारहवीं के छात्र - इंजीनियरिंग और अन्य प्रवेश परीक्षाओं के फॉर्म भरवाने के लिए अपने पालकों के पास जाते हैं. जो बच्चे IIT और AIIMS की परीक्षाओं में सफल होते हैं, उनके फॉर्म्स अक्सर पालक भरते हैं. जिन बच्चों को थर्मोडायनामिक्स के सब नियम मालूम हैं, दुर्भाग्य से उन्हें फॉर्म भरना और चिट्ठियों को रजिस्टर्ड पोस्ट से भेजना नहीं आता है. छात्र, माता-पिता को, फॉर्म के साथ भेजे जाने वाले बैंक ड्राफ्ट को बनवाने के लिए परेशान करते हैं. बच्चों को यह बुनियादी कुशलताएँ स्कूल क्यों नहीं सिखाता है?

मेरा सुझाव है कि इसके लिए स्कूल में “प्रेक्टिकल-पीरियड” हो. इस पीरियड में कोई कोर्स की किताब को नहीं पढ़ा जायेगा. बल्कि उसमें उन कुशलताओं को सिखाया जायेगा जो ज़िन्दगी जीने के लिए ज़रूरी हैं. इसके लिए अगर महीने में एक “प्रेक्टिकल-पीरियड” भी हो तो वो भी चलेगा.



प्रेक्टिकल पीरियड

हम यहाँ कुछ बुनियादी चीज़ों से शुरू करें. भारत के संविधान ने हरेक 18 साल के भारतीय को, वोट देने का अधिकार दिया है. यानि 18 वर्ष के नागरिकों को अपनी सरकार चुनने का हक है. पर हकीकत है कि 18 साल के बारहवीं क्लास के छात्रों को वोटिंग के बारे में कुछ भी पता नहीं होता. स्कूल बड़ी मेहनत से बच्चों के बारहवीं के फॉर्म भरता है. पर इलेक्शन कार्ड हासिल करने का फॉर्म भरने में स्कूल बच्चों की मदद नहीं करता है. कितना अच्छा हो अगर स्कूल ऐसी व्यवस्था करें जिससे छात्र 18 वर्ष पूरा होते ही इलेक्शन फॉर्म भर सके, और साथ में छात्रों को देश की राजनैतिक स्थिति से भी अवगत कराएँ.

कई शिक्षाविद, स्कूल स्तर पर राजनीति परिचय की बात से शायद सहमत न हों. पर ज़रा हम पूरी स्थिति का जायजा लें. इस विवादास्पद विचार के अलावा भी हम अनेकों व्यावहारिक बातें कर सकते हैं, सैकड़ों मुद्दे उठा सकते हैं. अगर स्कूल ऐसा करेंगे तो छात्रों की कुशलताओं में अवश्य सुधार होगा.

मुझे उन दिनों की याद है जब मुझे बैंक-चेक भुनाना और मनीआर्डर भेजना नहीं आता था. तब पिताजी ने तुरंत जेब से सौ रूपए का नोट निकालकर मुझे दिया, और उन्हें मनीआर्डर भेजने को कहा. पोस्टऑफिस जा कर सही फॉर्म खोजना, फिर उसे भरकर पिताजी को भेजना, मेरे लिए एक नायाब अनुभव था, जिसे मैं आज तक नहीं भूला हूँ. इस सरल अभ्यास से मैं बहुत कुछ सीखा.

हमारी शिक्षा प्रणाली बच्चों को बीमारी के समय छुट्टी लेने के लिए अर्जी लिखना तो सिखाती है, पर बहुत कम स्कूल के बच्चे ही बैंक का खाता खोलने के लिए अर्जी या नागरिक सुविधाओं के अभाव के बारे में म्युनिसिपल कमिश्नर को चिट्ठी लिख सकते हैं. बच्चे असली जीवन के अनुभवों से सीखें तो बेहतर होगा क्योंकि बहुत से व्यस्क ज़िन्दगी भर सरल अर्जियां भी लिखने से कतराते हैं - मिसाल के लिए बैंक-स्टेटमेंट के लिए अर्जी.

जब मैं आठवीं कक्षा में था तो पिताजी ने मेरे साथ एक रोचक प्रयोग किया. पिताजी भारतीय वायुसेना में काम करते थे और उनका तबादला दिल्ली से पश्चिम बंगाल के एक छोटे शहर हासीमारा में हुआ. वहां केवल दो ही स्कूल थे - एक एयरफोर्स का स्कूल और दूसरा केंद्रीय विद्यालय. मैं नए स्कूल में दाखिला लेने और नए दोस्त बनाने को एकदम तत्पर था. पहुँचने के दो दिन बाद ही स्कूल जाने की मेरी जिज्ञासा तीव्र हो गयी. उसके बारे में मैंने पिताजी से पूछा. कुछ देर सोच कर उन्होंने कहा, “तुम खुद स्कूल में जाकर एडमिशन क्यों नहीं ले लेते?” यह सुन कर मुझे ताज्जुब हुआ, और मैंने पूछा, “एक बच्चा कैसे दाखिला ले सकता है? उसके लिए पालकों का होना ज़रूरी होगा?” पिताजी ने उत्तर दिया, “किस कानून में यह लिखा है कि माता-पिता का बच्चे के दाखिले के समय उसके साथ जाना ज़रूरी है? तुम स्कूल में खुद जाकर फॉर्म भरो - अपना नाम, आयु आदि, फिर प्रवेश परीक्षा दो, फीस जमा करो - इस तरह तुम्हारा स्कूल में दाखिला हो जायेगा. हाँ, तुम्हें मेरे दस्तखतों की ज़रूरत पड़ेगी. तुम फॉर्म भरना और मुझे बताना कि मैं कहाँ दस्तखत करूँ. इसके लिए तुम्हें माता-पिता की ज़रूरत नहीं है.”

शुरु में मैं वाकई में डरा हुआ था, पर फिर भी मैंने यह करने का मन बनाया. मैं एयर-फोर्स स्कूल पहुँच, वहां के दफ्तर में जाकर मैंने एक स्टाफ मेम्बर से कहा, “सर, मैं आपके स्कूल में दाखिला लेना चाहता हूँ?” उन्होंने पूछा, “तुम्हारे माता-पिता कहाँ हैं?” मेरे पास उनके सभी प्रश्नों के उत्तर थे. “मेरे माता-पिता की ज़रूरत केवल फॉर्म पर दस्तखत करते समय पड़ेगी, जो वो करेगा. कृपा मुझे फॉर्म दें.” कुछ देर आनाकानी करने के बाद मुझे स्कूल के प्रिंसिपल के पास ले जाया गया. मैंने उन्हें भी वही उत्तर दिया. प्रिंसिपल थोड़े हक्का-बक्का हुए. उन्होंने मुझ से पिताजी का नाम और कई अन्य प्रश्न पूछे, और फिर ऑफिस के स्टाफ से मुझे एक फॉर्म देने को कहा.

पिताजी ने सही ही कहा था. फॉर्म भरना सरल था और मुझे उसमें लिखे सभी प्रश्नों के उत्तर पता थे - मेरा पता, जन्म तारीख, पिछला स्कूल आदि. मैंने खुद फॉर्म भरकर उसपर पिताजी के दस्तखत लिए. मैं खुद प्रवेश परीक्षा देने गया, उसमें पास हुआ. फिर मैंने फीस जमा करके स्कूल में दाखिला लिया. इस अनुभव ने मुझे बहुत हिम्मत दी. आठवीं के बाद से मैंने सारी अर्जियां और फॉर्म्स खुद भरे.

एक और ऐसा क्षेत्र है जिसमें बच्चे कदम रखते हैं, पर स्कूल उसमें उनकी कोई मदद नहीं करता है। वो है ड्राइविंग सीखना और फिर लर्निंग-लाइसेंस के लिए अर्जी भरना। शहरों में बच्चे 16 साल की उम्र से ही - जब वे दसवीं में होते हैं, ड्राइविंग सीखना चाहते हैं। भारत में यह कानूनी तौर पर वैध है, और 16 वर्ष के बच्चों को 50-सीसी यह उससे कम क्षमता वाली मोटरसाइकिल चलाने का लर्निंग-लाइसेंस मिल जाता है। 18 साल की उम्र में बच्चे परमानेंट-लाइसेंस के लिए अर्जी भर सकते हैं। स्कूल ड्राइविंग सिखाने और लाइसेंस का फॉर्म भरने में बच्चों की मदद क्यों नहीं करता है? स्कूल चाहे तो बच्चों को बुनियादी रोड-संकेत सिखा सकता है और उन्हें लर्निंग-लाइसेंस दिलाने में मदद कर सकता है।

मुझे पता है कि अक्सर युवक ड्राइविंग करते समय इस ज़िम्मेदारी का दुरुपयोग करते हैं, पर वही बात सेक्स-शिक्षा पर भी लागू होती है। अब क्योंकि हमारे स्कूल धीरे-धीरे बच्चों को लैंगिक-शिक्षा देने को तैयार हुए हैं, फिर उन्हें ड्राइविंग सिखाने से परहेज़ क्यों?

अगर हम ध्यान से सोचें तो स्कूल बच्चों को कई व्यावहारिक बातें सिखा सकता है। आरकेपुरम स्थित रामजस स्कूल की पूर्व प्रिंसिपल श्रीमती बालाचंद्रन ने “प्रोजेक्ट सिटीजन” नामक प्रकल्प का बीड़ा उठाया है। इसमें वो बच्चों को RTI (राइट तो इनफार्मेशन) सूचना अधिकार की अर्जियां लिखने को प्रेरित करती हैं। एक ओर जहाँ तमाम वयस्कों को RTI (राइट तो इनफार्मेशन) की अर्जियां लिखना नहीं आती हैं, वहीं बच्चे उन्हें आसानी से लिख रहे हैं। जिन बच्चों ने RTI अर्जियां लिखना सीखा है, वे एकदिन देश और दुनिया में पारदर्शिता का बिगुल फूँकेंगे।

स्कूल के अधिकांश छात्रों को गैस-रेगुलेटर और बिजली का बल्ब बदलना नहीं आता है। यह व्यावहारिक शिक्षा तो उन्हें दी ही जानी चाहिए, क्यों? ऐसी प्रैक्टिकल शिक्षा की शुरुआत निचली कक्षाओं के छोटे बच्चों से शुरू होनी चाहिए - वे जाकर दुकान से कुछ खरीद कर ला सकते हैं। बड़े या सीनियर क्लास के बच्चे रेल या हवाई टिकट बुक करें।

यह काम देखने में छोटे हों, पर स्कूल में बच्चों को इन प्रकार के व्यावहारिक काम की कोई सीख नहीं मिलती है। अंत में वे उन्हें अनुभव से ही सीखते हैं। कुछ लोगों के अनुसार - ज़िन्दगी, बच्चों को यह सबक खुद-ब-खुद सिखा देगी। पर अगर स्कूल बच्चों को उस अनुभव से लेंस करे तो कितना अच्छा हो? आपदा-प्रबंधन (disaster management) के विषय पर आजकल बहुत चर्चा है। अगर घर या स्कूल में आग लग जाये तो क्या किया जाये? अगर अजनबियों के साथ आपको असुविधा हो रही हो, तो आप क्या करें? अगर माता-पिता बच्चों को स्कूल से लेने समय पर न पहुंचे तब बच्चे क्या करें? सांप के काटने पर तुरंत क्या करें? आपात स्थिति में पुलिस या एम्बुलेंस को कैसे बुलाएँ?

इन विषयों पर कुछ पाठ-योजनायें (लेसन-प्लान्स) बनाये जा सकते हैं, और जिन टीचर्स को इन विषयों का अनुभव है वो कक्षा में मदद कर सकते हैं। इस प्रकार हम इस “प्रैक्टिकल पीरियड” में सैकड़ों समस्याओं को सुलझा सकते हैं। इसलिए यह बेहद ज़रूरी है कि हर स्कूल में “प्रैक्टिकल पीरियड” हो।

कला, कला शिक्षक और कला-कमरा

प्रिय प्रिंसिपल,

कला-शिक्षक या आर्ट-टीचर का स्कूल में एक विशेष स्थान होता है क्योंकि उसे हर महत्वपूर्ण अवसर पर स्कूल को सजाना पड़ता है. स्कूल के नोटिस-बोर्ड आर्ट-टीचर की ज़िम्मेदारी होते हैं. इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता है कि बच्चे कुछ कला सीखें, या नहीं, पर स्कूल का कला-कमरा बिल्कुल एक आर्ट-गैलरी जैसा दिखना चाहिए, जहाँ दीवारों पर उम्दा पेंटिंग्स और आर्ट-वर्क प्रदर्शित हो. सबसे अच्छा आर्ट-टीचर उसे माना जाता है जो अपनी कला से प्रिंसिपल को खुश करे, बच्चों को नहीं.

ज्यादातर आर्ट-टीचर बच्चों से किताब में छपे किसी चित्र की नकल करवाते हैं या फिर उनसे किसी विषय पर चित्र बनाने को कहते हैं. हम भूल जाते हैं कि सच्ची कला का मतलब अभिव्यक्ति होता है - जो हम देखें, सुनें और अनुभव करें उसकी अभिव्यक्ति. कला को कभी भी बच्चों के अनुभवों से नहीं जोड़ा जाता है. बस आर्ट-टीचर अपनी मनमर्जी से इस बात का ऐलान करता है कि आज बच्चों को "बाज़ार का दृश्य" बनाना है. इसलिए बच्चे केवल अपनी याददाश्त से ही बाज़ार का दृश्य बनाते हैं.

कला, चिंतन-मनन का भी एक अहम् जरिया हो सकता है. ऐसा करने से बच्चे द्वारा स्कूल में पढ़ा हरेक विषय अधिक मूल्यवान बनेगा. मिसाल के लिए अगर बच्चे म्यूजियम घूम कर आये हैं, तो टीचर बच्चों से म्यूजियम के बारे में सोचने को और फिर उसके आधार पर चित्र बनाने को कहे.



बच्चा क्या और कैसा चित्र बनाता है उससे हम बच्चे के बारे में कई अनुमान लगा सकते हैं। आपको शायद “तारे ज़मीन पर” फिल्म के चित्र याद हों। जब आमीर खान एक बच्चे के बनाये चित्रों की एल्बम देखता है तो उसे बच्चे और परिवार के बीच की दूरी, लगातार बढ़ती नज़र आती है - जो शायद बच्चे को बोर्डिंग स्कूल में भेजे जाने का परिणाम था।

इसलिए मुगल-काल के इतिहास का एक अध्याय पढ़ने के बाद, इतिहास की टीचर, आर्ट-टीचर की मदद ले सकती है। बच्चों ने मुगल-काल को कैसे समझा? वो अपनी कल्पना को चित्रों में प्रदर्शित कर सकते हैं। तब बच्चे ऐसे सैकड़ों चित्र बनायेंगे जिनकी इतिहास-टीचर ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। अंग्रेजी या हिंदी की कोई कहानी पढ़ने के बाद, बच्चे इसी अभ्यास को दोहरा सकते हैं। बच्चों कहानी का वो दृश्य बनायें जो उन्हें स्पष्ट याद हो।

मैं यहाँ अलग-अलग विषयों के एकीकरण या “इंटीग्रेशन” का ज़िक्र कर रहा हूँ। बहुत से स्कूल विभिन्न विषयों के शिक्षकों को अभी भी “इंटीग्रेशन” का मौका नहीं देते। सोचने पर यह काफी आसान लगता है। इतिहास-टीचर, स्कूल के आर्ट-टीचर को बता सकती है कि अभी उसने “अशोक” का पाठ खत्म किया है। फिर आर्ट-टीचर “अशोक” के बारे में बच्चों से चित्र बनाने को कह सकती है। दोनों शिक्षकों के बीच के इस संवाद में एक मिनट से ज्यादा समय नहीं लगेगा।

अगर मुगल-काल या “अशोक” की पेंटिंग्स क्लास में प्रदर्शित हुईं तो उनसे हर कोई मुगल-काल या “अशोक” के बारे में जान सकेगा।

कुछ लोगों के अनुसार अगर बच्चे आर्ट-क्लास में भी इतिहास करेंगे तो इससे एक खास विषय का बच्चों पर भार बढेगा। मैं इस तर्क से सहमत हूँ और इसलिए इस अभ्यास को साल कुछ ही बार करना चाहिए।

इस अभ्यास को किसी पाठ की परीक्षा के विकल्प के रूप में भी देखा जा सकता है। CCE की सिफारिश के अनुसार वार्षिक परीक्षाओं की बजाए बच्चों का लगातार और निरंतर मूल्यांकन होना चाहिए। उनके अनुसार, “बच्चे भिन्न विषयों और उनकी समग्रता के बारे में क्या सीख रहे हैं, उसके बारे में अलग-अलग तरीकों से जानकारी इकट्ठी करें और उनकी प्रगति आँकें।”

किसी पाठ पर आधारित प्रश्नों का उत्तर लिखने की बजाए बच्चे उसके बारे में पेंटिंग बना सकते हैं। यकीन करें, बच्चों को ऐसा करने में बड़ा मज़ा आएगा और इससे शायद उस विषय में उनकी रुचि और बढ़ेगी। मुझे एक स्कूल की वाईस-प्रेसिपल मिलीं। उनकी शिकायत थी कि “रचनात्मक आकलन” किया ही नहीं जा सकता है। मेरे सुझाव में शायद उन्हें इसका हल मिले।

असली अनुभवों पर बच्चे आसानी से चित्र बना सकते हैं। गर्मी की छुट्टियों से लौट कर आने के बाद बच्चे छुट्टियों के अपने अनुभवों पर चित्र बनायें। “प्लान इंटरनेशनल” नामक स्वयंसेवी संस्था ने कुछ-कुछ वैसा ही किया। उन्होंने देश भर में बच्चों से बाल-लैंगिक-शोषण पर चित्र बनाने को कहा। उन चित्रों पर वो शोध कर रहे हैं और भारत में बाल-लैंगिक-शोषण के फैलाव का अनुमान लगा रहे हैं।

कलास में बैठे बच्चों को चित्र बनाने के “विषय” देने से अच्छा हो कि सब लोग खेल के मैदान में जाएँ और वहाँ बच्चे जो खेल-कूद देख रहे हैं, उनपर वे चित्र बनायें.

अगर ऐसा किया गया तो जिन बच्चों का कला में रुझान होगा वे अपने विचारों को पेंटिंग्स के जरिये जरूर अभिव्यक्त करेंगे.

हमें यह समझना चाहिए कि जिस तरह भाषा शब्दों के माध्यम से बच्चों को एक अभिव्यक्ति का मौका देती है, कला भी उसी तरह उन्हें अभिव्यक्ति का एक विकल्प देती है.

मनुष्य खुद को भाषा, कला या क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्ति करते हैं. अगर स्कूल बच्चों को इन तीनों माध्यमों से खुद को अभिव्यक्त करने का मौका दे, तो उससे बच्चों का समग्र विकास होगा. दुर्भाग्यवश, स्कूल में बच्चों को केवल शब्दों के जरिये ही खुद को अभिव्यक्त करने का मौका मिलता है, और वहाँ भी अक्सर उनकी अभिव्यक्ति को दबाया जाता है.

अब मैं आर्ट-टीचर पर सौंपी अहम् जिम्मेदारी - यानि “नोटिस-बोर्ड” की बात करूंगा. आर्ट-टीचर को जूनियर क्लासेज के लिए “नोटिस-बोर्ड” को खूब आकर्षक और रंगीन सजाना पड़ता है. सीनियर क्लासेज का “नोटिस-बोर्ड” सुन्दर लगे इसकी भी जिम्मेदारी आर्ट-टीचर की ही होती है.

सुन्दर “नोटिस-बोर्ड” शायद स्कूल की गरिमा में चार-चाँद लगाये और स्कूल में आने वाले मेहमानों को प्रभावित करे, पर आर्ट-टीचर को स्कूल की अन्य कक्षाओं का दौरा करना चाहिए वहाँ बच्चों द्वारा बनाई कला को भी देखना चाहिए.

बच्चे स्कूल को सजाने का काम क्यों न करें? बच्चे शायद आर्ट-टीचर जितना आकर्षक काम नहीं कर पायें, पर इससे एक तो, आर्ट-टीचर को काफी मुक्त-समय मिलेगा. दूसरे, इससे कला में बच्चों की रुचि बढ़ेगी. फिर यह क्यों न करें? मुझे ऐसा स्कूल देखने में खुशी होगी जहाँ “नोटिस-बोर्ड” देखने में सामान्य हों, पर उन्हें बच्चों ने बनाया हो और सच्चाई से अपनी कला का परिचय दिया हो.

कला, एक ऐसा विषय है जिसे बच्चों को सिखाना बहुत मुश्किल है. इसलिए यह बहुत जरूरी है कि आर्ट-टीचर को “सजावटी” कामों से मुक्त किया जाये जिससे वो बच्चों में छिपी कला को उजागर करने के काम में लगे. मेरी राय में वो स्कूल बेहतर है जहाँ औसत सजावट हो, पर जहाँ के बच्चों की कला में रुचि हो. पर अक्सर देखने में ऐसे स्कूल मिलते हैं जो बहुत सजे-धजे होते हैं पर वहाँ बच्चों की कला में रुचि बहुत कम होती है.

स्कूल की पिकनिक और आदान-प्रदान

प्रिय प्रिंसिपल,

हर साल स्कूल बच्चों को “शैक्षिक-यात्रा” के नाम पर किसी रोचक स्थान की सैर करने ले जाया जाता है। कुछ लोग इसे “जोखिम-यात्रा” भी कहते हैं। स्कूल के नियमित कार्यक्रम में कुछ नयापन लाने का, सैर-सपाटा एक अच्छा तरीका है। सच तो यह है, कि अब “शैक्षिक-यात्रायें” आयोजित करने वाली कई निजी कम्पनियाँ खुल गयी हैं जो उच्च-गुणवत्ता और सुरक्षित टूर्स आयोजित करती हैं। बच्चे इन “शैक्षिक-यात्राओं” से बहुत कुछ सीखते हैं।

अक्सर यह टूर्स उन इलाकों में आयोजित किये जाते हैं जहाँ कुछ “एक्शन” संभव हो। आजकल शहरी बच्चों को गाँवों में ले जाया जाता है जिससे वे वहाँ के ग्रामीण अर्थव्यवस्था और वहाँ के समाज को समझ सकें। स्वयंसेवी संस्था “प्रवाह” ने इसकी शुरुआत की थी। “प्रवाह” द्वारा आयोजित ग्रामीण यात्रायें छात्रों के लिए बहुत अच्छी साबित हुईं। “प्रवाह” यात्रा के साथ-साथ छात्रों में “जीवन-कुशलताओं” की वर्कशॉप भी आयोजित करता है। इससे शहरी छात्रों को गाँव की स्थिति और वहाँ के विकास का अच्छा अंदाज़ा हो जाता है।

कई स्कूल अमरीकी और ब्रिटिश स्कूलों के साथ आदान-प्रदान कार्यक्रम आयोजित करते हैं। मैं इन “शैक्षिक-यात्राओं” और आदान-प्रदान के कार्यक्रमों में कुछ और बातें जोड़ना चाहता हूँ। बारहवीं के बाद अधिकांश छात्रों का IIT या मेडिकल कॉलेज में दाखिला लेने का सपना होता है, पर बहुत कम छात्रों को इन संस्थाओं को देखने का मौका मिलता है। दिल्ली, मुंबई या चेन्नई के बहुत कम स्कूल ही अपने बच्चों को कभी शहर में स्थित IIT का कैंपस दिखाने के लिए ले जाते हैं। अगर स्कूली बच्चे उनके विशाल कैंपस को देखते तो उसका उनपर ज़रूर असर पड़ता। इंजीनियरिंग के प्रथम वर्ष का छात्र, स्कूली बच्चों को अपने कॉलेज के कैंपस का भ्रमण कराये। यह कितना सुखद अनुभव होगा, ज़रा उसकी कल्पना करें।

इस तरह के सैर-सपाटे स्कूल की नियमित गतिविधि का एक हिस्सा होना चाहिए। उदाहरण के लिए दिल्ली में बारहवीं के बच्चों को दिल्ली यूनिवर्सिटी के कई कॉलेज (कला, फाइन-आर्ट्स, कॉमर्स, फैशन-डिजाईन, कानून, विज्ञान, इंजीनियरिंग, मेडिसिन) का दौरा करना चाहिए। बच्चे इन दौरों से बहुत कुछ सीखेंगे। इन दौरों पर बिताये कुछ दिन, बारहवीं के बच्चों के लिए समय की बर्बादी नहीं, बल्कि बहुत शिक्षाप्रद होंगे।

मुझे इस सैर
का मतलब
समझ में नहीं आया



एक और प्रवृत्ति नज़र आती है - वो है यूरोप, अमरीका और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों का दौरा. मैं इन देशों के दौरों के खिलाफ नहीं हूँ. पर उससे पहले हम दक्षिण-एशिया के देशों का दौरा तो करें. अगर भारतीय बच्चे पाकिस्तान का दौरा करेंगे तो उससे हमें दोनों-देशों की समस्याओं को सुलझाने में मदद मिलेगी. बेंकाक घूमने जाने से ऐसा कुछ नहीं होगा. बांग्लादेश, नेपाल, भूटान और श्रीलंका भी घूमने जाया जा सकता है. एक-जैसी संस्कृति वाले देशों में की गयी "शैक्षिक-यात्रा" ज्यादा सार्थक होगी. बिलकुल भिन्न संस्कृति वाले देशों के सन्दर्भ बिलकुल अलग होंगे और वहां जाने से उतना लाभ नहीं होगा. दक्षिण-एशिया के देशों के छात्र साथ मिलकर कई प्रोजेक्ट्स एक-साथ कर सकते हैं, और उनके नतीजे एक-दूसरे के साथ बाँट सकते हैं. उनमें से सबसे उम्दा प्रकल्पों को ठोस रूप दिया जा सकता है. एक बात और भी है - दक्षिण-एशिया के देशों का दौरा, अमरीका और यूरोप के देशों के दौरों की तुलना में कहीं ज्यादा सस्ता होगा.

एक बार मुझे एक छात्र के साथ नॉर्वे जाने का अवसर मिला और मुझे उसमें बहुत मज़ा आया. कुछ महीनों के बाद वही छात्र मेरे साथ लाहौर, पाकिस्तान की यात्रा पर गया. छात्र को लाहौर इतना पसंद आया कि वो वहां से वापिस नहीं आना चाहता था. उसने यह भी बताया कि उसने पाकिस्तान जाकर बहुत कुछ सीखा. उस छात्र के

अनुसार, “यह ठीक है कि विकसित देशों से हमें बहुत कुछ सीखना है, परन्तु दक्षिण-दक्षिण के देशों के बीच आपसी सहयोग भी बेहद ज़रूरी है.”

विकसित देशों का दौरा करते समय हमें “विकास” के मुद्दे को जोड़ना चाहिए. प्रसिद्ध स्वयं-सेवी संस्था VSO (वोलंटरी सर्विसेज ओवरसीज) अनूठे तरह के दौरे आयोजित करती है. इसमें विकासशील और विकसित देश के युवा पहले कुछ समय एक भारतीय गाँव में, और बाद में इंग्लैंड के एक गाँव में साथ-साथ समय बिताते हैं. हम भी कुछ ऐसा ही मॉडल अपना सकते हैं जहाँ भारतीय छात्र यूरोप और अमरीका के गाँवों में समय बिता सकें. भारतीय छात्र, यूरोप और अमरीका में, वहाँ के गरीबों के साथ चर्चा कर सकते हैं - देश समृद्ध होने के बावजूद वहाँ पर क्यूँ इतनी गरीबी है. ट्रिप के दौरान अगर छात्र विकास के मुद्दों पर चर्चा करेंगे तो उनका दौरा अधिक सार्थक और अर्थपूर्ण होगा.

अमीर स्कूल अपने बच्चों को अब अमरीकी अन्तरिक्ष अनुसन्धान संस्था NASA के दर्शन करने भेजने लगे हैं. कितना अच्छा हो कि पहले यह बच्चे भारतीय अन्तरिक्ष अनुसन्धान संस्था ISRO के दर्शन करके आयें. कहने का आशय है कि “शैक्षिक-दौरों” को हमें एक संतुलित नज़रिए से देखना चाहिए और उसमें “विकासशील” और “विकसित” दोनों तरह के देशों को शामिल करना चाहिए.

“शैक्षिक-दौरों” का न तो किसी विषय, और न ही शिक्षा के उद्देश्यों से कोई सीधा सम्बन्ध है. बच्चों को इन सैरों में इसलिए बहुत मज़ा आता है क्योंकि वो क्लास में बैठने से मुक्त होते हैं. अगर स्कूल चाहे तो किसी खास विषय पर भी सैर आयोजित कर सकता है.

में भारत में ऐसा कोई स्कूल को नहीं जानता जो बच्चों को अनूठी भौगोलिक V-घाटियों, लहरदार झीलों, ग्लासिएर्स (हिमनद), पतझड़ और शंकुधर वनों को दिखाने ले जाता हो. अक्सर दिल्ली के स्कूल, बच्चों को जयपुर का किला दिखाने ले जाते हैं, पर उस इलाके का पूरा भूगोल, खेतों में उगती फसलें और दिल्ली-जयपुर महामार्ग पर बसे गाँव पर किसी का कोई ध्यान नहीं जाता है. फसलों के पाठ जिनमें - जोवार, बाजरा, रबी और खरीफ का वर्णन होता है को, बिलकुल नज़रंदाज़ किया जाता है.

मुंबई के बच्चे घूमने के लिए दार्जीलिंग जाते हैं. कितना अच्छा हो अगर उन्हें जडागुडा और झुंझुनू की खदानें दिखाने ले जाया जाये? बच्चे बोकारो स्टील प्लांट भी देखने जा सकते हैं, जिसकी स्थिति को नक्शे पर दिखाना उन्हें भूगोल अभ्यास में करना पड़ता है. बच्चों को सांभर झील, नेयवेली कोयला खदानें, या दुर्गापुर स्टील प्लांट दिखाने भी ले जाया जा सकता है. सबने इन नामों को सुना है, पर वहाँ कभी गए नहीं. इन स्थानों पर जाना शायद लाखों रुपये खर्च करके NASA जाने से बेहतर होगा. भारत के उत्तरी-पूर्व स्थित राज्यों का दौरा शायद NASA जाने से कहीं अधिक शिक्षाप्रद हो.

विज्ञान-यात्रा में बच्चे म्यूजियम का अलावा - इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस (IISc), DRDO, IARI पूसा, BARC भाभा आणविक संयंत्र, ISRO, फारेस्ट रिसर्च इंस्टिट्यूट (FRI), अनेकों IIT और AIIMS भी जा सकते

हैं. खेल-कूद देखने के लिए बच्चों को हॉकी फेडरेशन कैम्पस में, निशानेबाजी के मैदान और हरियाणा के बॉक्सिंग स्कूल्स और अखाड़ों में ले जाया जा सकता है.

अक्सर पंचायती राज का जिक्र होता है, पर ऐसे कितने लोग हैं जो कभी “ग्राम प्रधान” से मिले हैं या जिन्होंने कभी ग्राम पंचायत के बैठक देखी है? कितने बच्चे जिला परिषद् के सदस्यों से, या ब्लाक डेवलपमेंट ऑफिसर से मिले हैं? अक्सर बच्चों को संसद और विधान सभा के दर्शन करने ले जाया जाता है, पर बच्चों को कभी इलेक्शन कमिशनर से क्यों नहीं मिलवाया जाता?

हर साल किसी-न-किसी राज्य में चुनाव होते ही हैं. कितना अच्छा हो अगर बच्चों को चुनाव वाले राज्यों में घुमाने के लिए ले जाया जाये. वहां बच्चे प्रजातंत्र को प्रत्यक्ष में देख सकेंगे - चुनाव अभियान, पोस्टर चिपकाना, नामांकन पत्र भरना, वोटिंग के प्रक्रिया और अंत में वोटों की गिनती. चुनाव वाले दिन कितने बच्चों ने पोलिंग-स्टेशन के दर्शन किये हैं?

मेरा सुझाव है कि किसी एक ऐसी नायाब गतिविधि के लिए, साल में एक बार बच्चों को बाहर ले जाया जाये. बच्चों को हमने बहुत कारखाने दिखाए हैं, अब हमें बच्चों को फक्ट्रियां दिखाना बंद करना चाहिए. हाँ, बच्चों को आइसक्रीम फैक्ट्री या कोकोकोला फैक्ट्री में जाना पसंद है क्योंकि उन्हें वहां उन्हें यह चीज़ें चखने को मिलती हैं. पर इन बड़े-बड़े कारखानों और मशीनरी से बच्चे बहुत कम सीखते हैं. इससे अच्छा हो कि बच्चों को स्थानीय मोची या बढई का काम देखने ले जाया जाये. सुरक्षा को ध्यान में रखकर बच्चों को आसपास जहाँ किसी बिल्डिंग का निर्माण चल रहा हो वहां भी ले जाया जा सकता है. वहां बच्चे मिस्त्रियों को ईंट रखते, प्लास्टर करते और छत-स्लैब की मचान लगाते हुए देख सकते हैं. निर्माण के काम में लगे तमाम मजदूर, दूर-दराज़ के गरीब गांवों से आये होंगे. उनकी समस्याएँ सुनकर देश में कैसे बदल आएगी इसके बारे में बच्चे ज़रूर कुछ सीखेंगे. इमारत का नक्शा बनाने वाले आर्किटेक्ट और स्टाफ से बातचीत करके भी बच्चों का ज्ञान बढ़ेगा.

जहाँ कोई सार्वजनिक कार्य - सड़क निर्माण आदि हो रहा हो वहां बच्चों को ज़रूर ले जाएँ. बचपन में और आज भी मुझे JCB ट्रक सड़क कैसे खोदता है, या नयी सड़क कैसे बनती है यह देखने में बहुत मज़ा आता है. आप अक्सर बहुत लोगों को JCB ट्रक को काम करते हुए, देखते पाएंगे. “तारे ज़मीन पर” फिल्म में कुछ दृश्य हैं जहाँ बच्चे रुक कर ऐसे कुछ कार्यों की प्रगति को निहारते हैं, जिसमें एक घर की पेंटिंग शामिल है. कोई काम होते देख, बच्चों की कल्पना शक्ति बढ़ती है. घर की पेंटिंग जैसा छोटा काम भी वयस्कों और बच्चों दोनों को लुभाता है.

आसपास की इन छोटी-छोटी ट्रिप्स में बच्चे खुद सोचना सीखते हैं, और अपने ज्ञान को सही परिपेक्ष में रखते हैं.

गणित का सही सन्दर्भ

प्रिय प्रिंसिपल,

अब मैं जो लिखने जा रहा हूँ वो प्रिंसिपल की बजाये गणित टीचर के लिया ज्यादा उपयुक्त होगा. हर प्रिंसिपल को अपने शिक्षकों के लिए प्रेरणा का स्रोत होना चाहिए.

गणित एक अजीब विषय है. गणित एक तरह का औजार, एक सहायक है, पर साथ में गणित एक विषय भी है. वैसे भाषा भी एक सहायक है, पर साहित्य और कविता ने भाषा को जीवन प्रदान किया है. भाषा खुद अपने आप में महज़ व्याकरण है. भाषा की आत्मा किसी कहानी या कविता में ही प्रकट होती है.

इसीलिये मैं गणित को “अजीब” कहता हूँ, क्योंकि वो व्याकरण के अलावा और कुछ नहीं है. गणित की अपनी कोई आत्मा नहीं होती है. गणित को असली जीवन में उपयोग करने पर ही उसकी आत्मा प्रगट होती है. यह दुःख की बात है कि हमारे पाठ्यक्रम में गणित का जीवन में वास्तविक उपयोग, बिल्कुल नदारद है. इसी वज़ह से दुनिया में लाखों-करोड़ों बच्चे गणित से घृणा करते हैं. पाठ्यपुस्तकों में गणित को एक औजार जैसे पेश किया जाता, जिसके बार-बार अभ्यास करना पड़ता है. अगर हिंदी और इंग्लिश की केवल व्याकरण पढ़ाई जाती और दिन भर बच्चे संज्ञा, विशेषण और क्रिया का अभ्यास करते, तो वे जल्दी ही ऊब जाते. तब बच्चे भाषा से भी घृणा करने लगते.



हम भारतीयों ने ही जीरो का इजाद किया था

अक्सर ऐसे प्रश्न $2x + 4y = 100$ का उत्तर देना बच्चों के लिए मुश्किल होता है. पर अगर इस प्रश्न को शब्दों में पेश किया जाये, “राहुल की दुगुनी उम्र, और विपिन के चौगुनी उम्र का योग 100 है” तब बच्चे उसका रिश्ता वास्तविक ज़िन्दगी से जोड़ पाएंगे और उसका मतलब समझ पाएंगे. मुझे हमेशा इस तरह के प्रश्न अच्छे लगे हैं.

गणित के प्रश्नों को कागज़ पर हल किया जाता है. वर्तमान में स्कूलों में “गणित-प्रयोगशालाएं” शुरू की गयी हैं, पर वहां भी उपकरणों के उपयोग के कारण, गणित महज एक औजार बन कर रह गयी है, और उसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है. गणित-टीचर द्वारा बच्चों को क्लास से बाहर कहीं ले जाने की सम्भावना कम है. जब तक गणित कागज़-पेंसिल और “गणित-प्रयोगशालाएं” द्वारा की जाएगी तब तक बच्चे इस विषय से घृणा करते रहेंगे.

मेरी मित्र झरना डे एक गणित की टीचर हैं. उनके अनुसार गणित हर जगह मौजूद है. फिर हम बच्चों को अलग-अलग स्थानों पर क्यों नहीं ले जाते हैं? कार में सफ़र करते हुए कार की स्पीड, कबाड़ीवाले को पुराने अखबार बेचते हुए, या फिर कुछ भी खरीदते हुए हम लगातार गणित के सवाल हल करते हैं.

यह एक व्यावहारिक उदाहरण है - आयतन (volume) का परिचय करते समय बच्चों को सिलिंडर (बेलन) का आयतन सिखाया जाता है. इसके लिए टीचर बच्चों को एक बेलनाकार पानी की टंकी दिखाने क्यों नहीं ले जाता? आजकल लगभग सभी पानी की टंकियां बेलनाकार होती हैं. बच्चे दर्जी के लम्बाई मापने वाले टेप से पानी की टंकी का घेरा और ऊँचाई नाप सकते हैं और फिर एक सरल से सूत्र से टंकी में भरे पानी का आयतन ज्ञात कर सकते हैं. मैंने दफ्तर में अपने एक सहकर्मी से सिलिंडर के आयतन का फार्मूला (सूत्र) पूछा, पर वो उसका सही जवाब नहीं पायीं. इसका उत्तर बहुत साफ़ है. स्कूल में उनकी गणित टीचर, फॉर्मूलों में आत्मा फूँकने में असफल रही होंगी.

इसी प्रकार लम्बाई-चौड़ाई और “मापने” के पाठ में शायद ही कोई गणित का शिक्षक बच्चों को खेल के मैदान में लेकर जाता हो. अगर बच्चे खेल के मैदान का क्षेत्रफल नापते, या फिर अपनी कक्षा का क्षेत्रपाल नापते तो वो बहुत कुछ समझ पाते.

आपको त्रिकोणमिति में दीवार के सहारे खड़ी सीढ़ी का उदाहरण शायद अभी भी याद हो. दीवार के सहारे एक सीढ़ी खड़ी होती है. आपको दीवार से सीढ़ी की दूरी, और कोण पता होता है. फिर आपको एक सूत्र का उपयोग कर सीढ़ी की ऊँचाई मालूम करनी होती है. किसी भी स्कूल में सीढ़ी आसानी से मिल जाएगी. आप सीढ़ी को दीवार के सहारे खड़ा करें, एक वास्तविक समस्या पैदा करें और फिर उसका हल निकालें. इसका नतीजा होगा कि आपके छात्र फार्मूला ज़िन्दगी में कभी नहीं भूलेंगे.

हमें इसी तरह के अन्य अभ्यास भी करने चाहिए - जैसे बिल्डिंग या पेड़ों की ऊँचाई नापना. इस अभ्यास को कागज़ पर करने की बजाये उसे वास्तविक परिस्थितियों में करें.

CBSE द्वारा मूल्यांकन के तरीका का यह अंश प्रस्तुत करने योग्य है:

“अक्सर हम छात्रों का मूल्यांकन परीक्षा के अंकों के आधार पर करते हैं - छात्रों के प्रयास, प्रदर्शन, सीखने के रवैये, रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में सीखे ज्ञान का उपयोग आदि आधारों पर. कितने सृजनात्मक तरीके से उन्होंने इन तकनीकों का उपयोग किया और सिद्धांतों को कितने समीक्षात्मक नज़रिए से देखा, हम इन बातों का मूल्यांकन नहीं करते.”

CBSE के इन सुझावों को हम आयतन या क्षेत्रफल वाले प्रयोगों के साथ बहुत आसानी से जोड़ सकते हैं. इसके लिए बच्चों को सिर्फ एक नापने वाले टेप की ज़रूरत होगी. रोज़मर्रा की व्यावहारिक परिस्थितियों में, ज्ञान को उपयोग कर पाने की क्षमता का यह टेस्ट होगा. इस मूल्यांकन को हम सीढ़ी के प्रयोग से भी कर सकते हैं. इसी प्रकार के प्रयोगों से, बिना लिखित परीक्षा लिए हम बच्चों का मूल्यांकन कर पाएंगे.

जहाँ तक सीढ़ी की बात है, उसे स्कूल के एक कोने में स्थाई रूप से रखा जा सकता है. रोज़ सीढ़ी की ऊँचाई और कोण को बदला जा सकता है, जिससे बच्चे नयी समस्याएँ हल कर सकें. स्कूल की इमारत को, गणित सीखने के लिए कई अन्य तरीकों से इस्तेमाल किया जा सकता है.

BALA - *बिल्डिंग एस ए लर्निंग ऐंड* नाम की पुस्तक में कबीर वाजपेयी ने स्कूल की जगह को सीखने के लिए इस्तेमाल करने के अनेकों उदाहरण दिए हैं। मैंने उनका ज़िक्र इस पुस्तक एक एक अन्य अध्याय में किया है। गणित में अलग-अलग स्पीड से चलने वाली दो कारों A और B जैसे प्रश्न का स्कूल के मैदान में दो साइकल्स लेकर वाकई प्रैक्टिकल किया जा सकता है। गणित के क्षेत्र में कई अन्य समस्याओं का भी इसी प्रकार “प्रैक्टिकल” हल निकला जा सकता है।

CSE - *सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट* का एक ऑडिट (लेखा-परीक्षण) प्रोग्राम है जिसमें स्कूल में, बच्चों को कुल पानी की खपत मालूम करनी पड़ती है। कितने लीटर पानी खर्च हुआ यह जानना आसान था - क्योंकि उसका उल्लेख पानी के बिल में था। परन्तु घास के मैदान में लगे स्प्रिंकलर ने कितना पानी खर्च किया यह चुनौती भरा काम था, क्योंकि स्प्रिंकलर ज़मीन के नीचे धंसे पम्प से जुड़े थे।

इसके लिए हमने एक प्रयोग किया। एक बाल्टी का आयतन नापा जो 20-लीटर निकला। फिर ज़मीन में धंसे पम्प को चलाया और उससे निकलने वाले पानी को बाल्टी में भरा। बाल्टी भरने में केवल 30-सेकंड लगे। उस समय को नोट किया। 30-सेकंड में 20-लीटर पानी, तो 1-मिनट में 40-लीटर पानी आएगा। अब स्प्रिंकलर से निकलने वाले पानी के लिए हमें स्प्रिंकलर कितने समय चला बस यह जानने की ज़रूरत थी। इस प्रयोग को देश के हजारों स्कूलों में दोहराया गया। इस प्रयोग को बच्चे भूलेंगे नहीं, यह उन्हें जीवन भर याद रहेगा।

गणित के सन्दर्भ में ताश, मोनोपोली (व्यापार) और अन्य खेलों के लाभ के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। वाकई में ऐसे खेल, गणित में बच्चों की रुचि जगाने में बहुत सहायक होंगे।

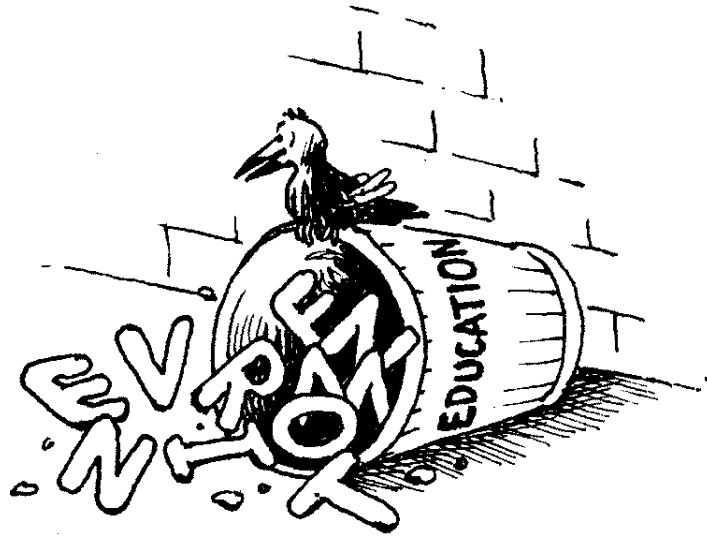
ऐसे सैकड़ों अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। हमें गणित की “आत्मा” को वापिस लाना है, और उसे रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से जोड़ना चाहिए। इसके लिए बच्चे दैनिक जीवन की चीज़ों से गणित के प्रयोग करें। अगर हम ध्यान से सोचें तो “integration” और “differentiation” जैसी कठिन अवधारणाओं को भी हम मज़ेदार तरीकों से सिखा पाएंगे।

पर्यावरण शिक्षण

प्रिय प्रिंसिपल,

स्कूल बहुत सक्रिय रूप से देश के पर्यावरण आन्दोलन में भाग ले रहे हैं। लगभग सभी स्कूल, पर्यावरण दिवस मानते हैं, चर्चाएँ आयोजित करते हैं, वे कम-से-कम पर्यावरण के विषय पर “पेंटिंग-स्पर्धा” तो ज़रूर ही आयोजित करते हैं। हर स्कूल पर्यावरण शिक्षण के लिए जो उससे बन पता है ज़रूर करता है। जो स्कूल अधिक सक्रिय होते हैं वे उस दिन बच्चों का जलूस निकालते हैं। बच्चे हाथों में बैनर लेकर शहर का चक्कर लगाते हैं और “पेड़ लगाओ” के नारे लगाते हैं। कुछ स्कूल पानी और बिजली बचाने की बात भी करते हैं।

अंत में इसका नतीजा क्या निकलता है? कुछ छात्र “पेड़ लगाओ” और “पानी बचाओ” नारों को देश की सभी पर्यावरण समस्याओं का हल मान लेते हैं। पर पानी कैसे बचाया जाये? इसका उत्तर कोई नहीं जानता। पर पर्यावरण के बारे में बात करना सबको अच्छा लगता है। इन रैलियों में जो पेड़ लगाये जाते हैं वो पंद्रह दिनों से ज्यादा ज़िंदा नहीं रहते। जो छात्र उन्हें लगते हैं वे दुबारा उन पौधों को जाकर कभी नहीं देखते हैं। जहाँ तक स्कूल का सवाल है, वहाँ तो चप्पे-चप्पे में पेड़ लगाये गए हैं। अब वहाँ और पेड़ लगाने के लिए कोई जगह खाली ही नहीं बची है।



स्कूल के छात्र बाघों के मरने और जंगलों के काटने की बातें करते हैं। वे इन विषयों पर निबंध लिखते हैं, वाद-विवाद प्रतियोगितायें करते हैं, चित्र और पेंटिंग्स बनाते हैं। पर पर्यावरण की यह सब बातें, बच्चों की अपनी ज़िन्दगी से बहुत दूर की हैं - उनकी रोज़मर्रा के जीवन पर इनका कुछ असर नहीं पड़ता है। पर्यावरण का सर्वनाश कहीं दूर-दराज़ के इलाके में हो रहा है, जिसपर उनका कोई नियंत्रण नहीं है। फिर भी कार में स्कूल यात्रा करते हुए बच्चे इन बातों पर चर्चा करते हैं।

कुछ ऐसे भी स्कूल हैं जो बारिश के पानी को इकट्ठा करके पानी को दुबारा उपयोग करते हैं। इसके लिए वे किसी जानी-मानी स्वयंसेवी संस्था से समझौता करके स्कूल के बाहर “बारिश के पानी के दोहन” का एक बोर्ड लगा देते हैं। पर सच्चाई यह है कि स्कूल के किसी भी बच्चे को इसके बारे में कुछ भी पता नहीं होता है।

असल में यहाँ पर सच्चे “पर्यावरण-शिक्षण” का अभाव है। बच्चों को यह महसूस करना चाहिए कि वे खुद पर्यावरण का एक अभिन्न अंग हैं। जो पानी वो पीते हैं वो भी पर्यावरण का हिस्सा है। छात्रों के लिए “पर्यावरण” शब्द का अर्थ - “कचरे को सिर्फ “कूड़ेदान में फेंकने” तक ही सीमित रह जाता है।

उत्तर भारत में पर्यावरण को लेकर एक और धुन जुड़ गयी है। वो है “पटाखे मत जलाओ” अभियान। सैकड़ों स्कूलों ने इस अभियान में हिस्सा लिया है, और उसके समर्थन में नुक्कड़-नाटक किये हैं। इस अभियान में अन्य छात्रों से पटाखे नहीं जलाने की अपील की जाती है। साल में एक बार दिवाली वाले दिन पटाखे जलाना, पूरे साल मोटर कार

के इस्तेमाल के बदतर समझा जाता है। बच्चे साल में एक बार दिवाली के पर्व पर पटाखे जला कर खुश होते थे, वो खुशी भी उनसे छीन ली जाती है। अभियान में पटाखों को कम करने की बात नहीं, उन्हें पूरी तरह रोकने की मांग की गयी है। इससे कहीं अच्छा हो अगर स्कूल किसी तरह बच्चों का कार से स्कूल आने बंद करे, और उन बच्चों को दाखिले में प्राथमिकता दे जो स्कूल के आसपास रहते हों।

यह पाखण्ड काफी व्यापक रूप से फैला है। जहाँ एक ओर स्कूल अपने कचरे को केंचुयों द्वारा रीसाइक्लिंग करने का दावा करता है वहीं इस नवाचार को बच्चों के घरों में ले जाने का कोई प्रयास नहीं किया जाता। इसी प्रकार कागज़ रीसाइक्लिंग का काम मात्र प्रदर्शन के लिए होता है। जो कबाड़ीवाले रोज़ टनों के हिसाब से घरों से रद्दी इकट्ठी करते हैं, उनका यहाँ पर कहीं भी उल्लेख नहीं होता है।

मैं प्रसिद्ध संस्था *सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट* की पर्यावरण-ऑडिट टीम का सदस्य था। मुझे यह देख कर बहुत ताज्जुब हुआ कि जहाँ एक ओर स्कूल पर्यावरण विषय पर तमाम नाटक और रैलियां निकाल रहे थे, वहीं उन्होंने अपने स्कूल में, प्रति व्यक्ति पानी और बिजली खर्च का, बुनियादी आकलन तक नहीं किया था। पर्यावरण की सच्चाई को स्कूल देखें, इसके लिए हमें बहुत मेहनत करनी पड़ी। उसके बाद ही उन्होंने, स्कूलों द्वारा इस्तेमाल किये संसाधनों का ब्यौरा इकट्ठा किया। पर अब भी ऐसे तमाम स्कूल हैं जो केवल अनुष्ठानों से खुश रहते हैं और गहराई में जाने से कतराते हैं।

औसत शिक्षक को शायद इसका अर्थ समझ में नहीं आये। पर सच्चाई यह है कि स्कूलों द्वारा आयोजित पर्यावरण अभियानों में इंसानों द्वारा की बर्बादी को अक्सर नज़रंदाज़ किया जाता है।

आजकल “कचरा-प्रबंधन” की बहुत चर्चा है। पर शायद ही ऐसा कोई स्कूल हो जहाँ पर सफाई कर्मचारी और स्कूल के छात्र मिलकर सक्रिय रूप से “कचरा-प्रबंधन” करते हों। स्कूलों में “जैव-विविधता” (बायोडायवर्सिटी) की भी बहुत चर्चा है, पर स्कूल के माली को कभी उसमें शामिल नहीं किया जाता है। माली की फूल-पौधों के बारे में जानकारी, उसके स्थानीय ज्ञान का “जैव-विविधता” के लिए लाभ नहीं उठाया जाता है। स्कूल में कुछ विशेष लोग पेपर-रीसाइक्लिंग प्लांट चलाते हैं पर बच्चों का उससे कोई जीवंत सम्बन्ध नहीं होता है। कचरा बीनने वाले और कबाड़ीवाले जो रीसाइक्लिंग इंडस्ट्री की रीढ़ की हड्डी हैं, ऐसे लोगों के लिए स्कूल के पर्यावरण अभियान में कोई स्थान नहीं होता है।

इसका नतीजा? स्कूल के बच्चे “मौसम बदलाव” पर निबंध लिखते हैं, “ग्लोबल-वार्मिंग” पर भाषण देते हैं, और पर्यावरण प्रदूषण पर पेंटिंग-स्पर्धा आयोजित करते हैं, पर अपनी असली ज़िन्दगी में कोई परिवर्तन नहीं लाते हैं। स्कूलों में पर्यावरण अभियान अब एक धार्मिक अनुष्ठान जैसे बन गए हैं। स्कूल कुछ कर्मठ स्वयंसेवी संस्थाओं के साथ मिलकर स्कूल में औषधीय-पौधों का बगीचा लगता है, पर इन पौधों का असली जीवन से क्या रिश्ता है यह कोई नहीं जानता है।

एक प्रयोग में हमने, औषधीय-पौधों के बगीचे के साथ लोगों का रिश्ता जोड़ने की कोशिश की। एक स्वयंसेवी संस्था ने स्कूल में औषधीय-पौधों का बगीचा लगाने का प्रस्ताव रखा। शुरू करने से पहले हमने बच्चों से कहा कि वे अपने

घर के किचन में क्या-क्या मसाले उपयोग होते हैं उनकी जानकारी हासिल करें. क्या घर के खाने में अजवायन, अदरक और लहसुन उपयोग होता है? उसके बाद बच्चों ने आसपास की दुकानों में “हर्बल” उत्पादों की उपलब्धता के बारे में जानकारी हासिल की, और “हर्बल” और अन्य प्रसाधन सामग्री की कीमतों की तुलना की. उसके बाद बच्चों ने अपनी कक्षा में “हर्बल” उत्पादों की एक प्रदर्शनी लगायी.

उसके साथ-साथ बच्चे जामिया हमदर्द यूनिवर्सिटी के यूनानी मेडिसिन विभाग भी गए. वहां वे एक परंपरागत हकीम यानि यूनानी इलाज करने वाले डॉक्टर से भी मिले. इस दौर में वो एक वैद (आयुर्वेदिक डॉक्टर) और आमची (तिबेटियन दवा डॉक्टर) से भी मिल सकते थे. इस प्रकार हम औषधीय-पौधों के बगीचे को सही सन्दर्भ में रख पाए और बच्चों को परंपरागत, असली दवाओं और जड़ी-बूटियों को चखवा पाए.

बच्चों को इस तरह के कई अनुभव देने के बाद ही स्कूल में औषधीय-पौधों का बगीचा लगाया गया. उसका नतीजा यह निकला कि बच्चों की जड़ी-बूटियों में रुचि जगी. केवल बगीचा लगा देने और उनके नाम की तख्तियां लगा देने से यह बात नहीं बनती. इसलिए पर्यावरण के किसी भी प्रोजेक्ट को लेने से पहले स्कूल को उसके विभिन्न पहलुओं पर गहराई से विचार करना चाहिए.

पर्यावरण के सभी प्रोजेक्ट्स में लोगों को जोड़ना बहुत ज़रूरी है. मिसाल के लिए “पानी” के प्रोजेक्ट में हमें प्लम्बर, स्थानीय नगरपालिका, सफाई कर्मचारियों, मछुआरों, मल्लाहों आदि को शामिल करना चाहिए. इसी तरह “बिजली” के प्रकल्पों में स्कूल के इलेक्ट्रीशियन, प्रशासनिक मैनेजर, स्थानीय बिजली बोर्ड के अफसरों को भी शामिल करना चाहिए. वनरोपण कार्यक्रमों में वन अफसरों, लकड़हारों, फर्नीचर निर्माताओं और बढईयों को भी शामिल करना चाहिए. ई-कचरा प्रोजेक्ट्स के लिए हमें इलेक्ट्रॉनिक माल के निर्माताओं, दुकानदारों और उन्हें उपयोग करने वालों से मिलना चाहिए. यह सब बड़े-बड़े जलूस, बैनर, पेंटिंग, निबंध लेखन, स्पर्धाओं और भाषणों से अच्छा होगा.

पर्यावरण के जो अर्थपूर्ण प्रोजेक्ट्स हैं उनमें लोगों के सहभागिता बहुत ज़रूरी होती है. पर्यावरण शिक्षण के लिए एक जीवंत माहौल आवश्यक है. इसके लिए सिर्फ मशीनों, रीसाइक्लिंग उपकरणों आदि की प्रदर्शनी से काम नहीं बनेगा.

अंत में एक और पते की बात कहना ज़रूरी है. हो सकता है स्कूल पर्यावरण संरक्षण के लिए कचरा-प्रबंधन और रीसाइक्लिंग की नवीनतम टेक्नोलॉजी इस्तेमाल करने की डींग मारता हो, पर इसके लिए उसे कोई संगोष्ठी आयोजित करने की ज़रूरत नहीं है.

प्रश्न-परीक्षा

प्रिय प्रिंसिपल,

परीक्षाओं ने हमेशा से किसी-न-किसी रूप में हमेशा परेशान किया है. परीक्षाएं क्यों ली जाती हैं? परीक्षाओं के द्वारा हम यह पता करना चाहते हैं कि जो ज्ञान और जानकारी छात्रों को दी गयी है, उसे उन्होंने अच्छी तरह आत्मसात

किया है कि नहीं. क्या उन्होंने उस विषय को समझा है या नहीं. क्या बिना प्रश्न पूछे बच्चों के ज्ञान का मूल्यांकन किया जा सकता है?

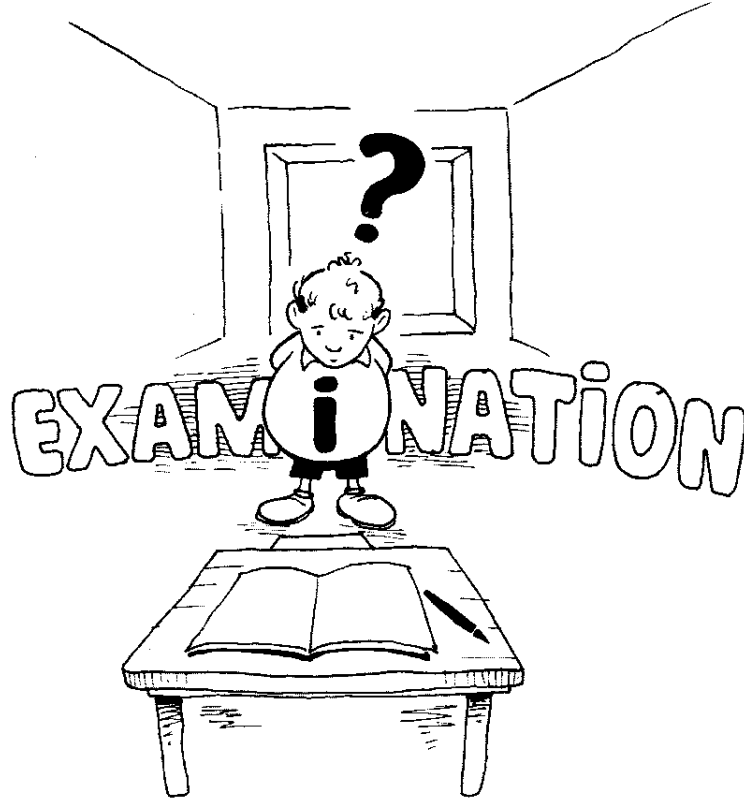
बच्चा क्या जानता है कि बजाए बच्चा क्या जानना चाहता है, इस आधार पर हम मूल्यांकन क्यों न करें? क्योंकि वो सीखने का कितना इच्छुक है, न कि उसने कितना सीखा है, उस आधार पर हमें मूल्यांकन करना चाहिए. क्या हम छात्रों की परीक्षा किसी दूसरे तरीके से ले सकते हैं - जिसमें बच्चे उत्तर देने की बजाये प्रश्न पूछें?

किसी बच्चे का मूल्यांकन प्रश्नों के आधार पर कैसे किया जाये? यह एक कठिन समस्या है. पर यह करना कठिन जरूर, पर असंभव नहीं है. यहाँ हमें शिक्षा के असली उद्देश्यों को याद करना पड़ेगा - क्या मूल्यांकन, बच्चा क्या जानता है उस आधार पर हो, या वो बच्चे की रुचि के आधार पर हो?

इसलिए परीक्षा में बच्चों को छूट हो कि वे सिर्फ वो लिखें, जो वो जानना चाहते हैं. उस विषय के बारे में बच्चे वो सभी प्रश्न लिखें, जो उनके दिमाग में आयें. टीचर का काम उन प्रश्नों की गुणवत्ता का मूल्यांकन करना, और उनके उत्तर बच्चे को वापिस देना होगा. बच्चे ने कितने चुनौतीपूर्ण प्रश्न पूछे - इस आधार पर टीचर उसका मूल्यांकन करेगा.

इससे बच्चे का सशक्तिकरण होगा, क्योंकि जबतक सीखने वाले शिष्य के हाथों में ताकत नहीं होगी, वो सीख नहीं पायेगा. समाज, सामूहिक रूप से यह निर्णय ले कि वो अपने बच्चों को क्या सिखाना चाहता है. बच्चा उनमें से वो तत्व ग्रहण करे जिन्हें वो सीखना चाहता है और फिर जीवन में आगे बढ़े.

शिक्षा का उद्देश्य वर्तमान ज्ञान की प्रतिलिपि (कॉपी या नकल) प्रस्तुत करना नहीं है. बच्चों को नए प्रश्न पूछने का समुचित ज्ञान और कुशलताएँ हासिल करनी चाहियें. इन कुशलताओं के आधार पर ही वर्तमान ज्ञान के भण्डार में वृद्धि होगी.



सच्चे शिक्षाविद इस मत से सहमत होंगे कि हम अपने बच्चों से उत्तर नहीं, प्रश्न चाहते हैं। तब हम जो भी सीखेंगे उसे कभी भूलेंगे नहीं। अगर हम किसी बात को भूल जाते हैं, तो उसका मतलब है कि हमने सचमुच में उसे सीखा ही नहीं था। इसलिए परीक्षाओं में बच्चों ने जो उन्होंने रटा है उसे दुबारा उगलवाने का प्रयास बिल्कुल बेकार का है, क्योंकि हूँ-बहू ठीक लिखने के बाद भी इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उन्होंने उसे वाकई में सीखा है।

आप ज़रा अपनी ज़िन्दगी पर खुद नज़र डालें। आपने परीक्षा में रटी बातें लिखकर शायद शत-प्रतिशत नंबर भी पाए हों, पर आज आपको उस पढ़ाई का कितना अंश याद है? इसका उत्तर 10 से 40 प्रतिशत के बीच हो सकता है। यह पास होने के न्यूनतम अंक हैं। अगर मैं कहूँ कि मैं हमेशा सच बोलता हूँ, और उस बात को लिख डालूँ, तो क्या इससे मेरा सच बोलना साबित होगा? नहीं। जो दिमाग में बचा रहता है, वही वाकई में सच है।

हम यह जानने को उत्सुक हैं कि बच्चा क्या सीखना चाहता है। अगर बच्चा उत्तरों की बजाये प्रश्न लिखे तो शायद हम इस पहेली को सुलझा पायें। हम इसमें एक प्रश्न और जोड़ सकते हैं, “मैं क्या जानता हूँ?” बच्चे में यह क्षमता और ताकत होनी चाहिए कि जो उसने सीखा है, वो उसे लिख पाए। इसके लिए हमें प्रश्न-पत्र की ज़रूरत नहीं पड़ेगी, सिर्फ एक कोरे कागज़ से काम चल जायेगा। तीन अध्याय पढ़ने के बाद अगर शिक्षक बच्चों का मूल्यांकन करना चाहे तो वो बच्चों को सिर्फ एक-एक कोरा कागज़ दे। बच्चे वो लिखें जो कुछ उन्होंने सीखा है। साथ में उससे उन्हें क्या फायदा हुआ है वो भी लिखें।

मैंने इसे “प्रश्न-परीक्षा” का नाम दिया है. यह एक ऐसी परीक्षा है जिसमें छात्र अपनी सीख को, और जो आगे सीखना चाहता है उन्हें प्रश्नों के रूप में लिखता है.

इसपर बहुत से शिक्षाविद अपनी नाराज़गी ज़ाहिर करेंगे. पर यह एक सुन्दर विचार है, और छोटे पैमाने पर इस पर प्रयोग करके देखा जा सकता है. चौथी से आठवीं के बच्चों को कम-से-कम इस प्रकार की एक परीक्षा तो ज़रूर दी ही जा सकती है. शायद इस प्रयोग के कुछ सफल परिणाम सामने आयें.

इस “प्रश्न-परीक्षा” द्वारा हम परीक्षाओं के एक अहम् मकसद को पूरा कर पाएंगे. हमें यह मालूम पड़ेगा कि छात्र को कहाँ मदद और सहायता की ज़रूरत है. पहले तो हमें छात्र खुद ही बताएगा कि उसकी क्या सीखने में रुचि है. इससे बच्चों में इमानदारी बढ़ेगी. इस परीक्षा के लिए किसी भी प्रकार की तैयारी की ज़रूरत नहीं होगी. बच्चे क्या जानते हैं वो इतना अहम् नहीं होगा, पर वो क्या जानना चाहते हैं वो ज्यादा महत्वपूर्ण होगा.

इस प्रयोग को अमल में लेने में एक दिक्कत आएगी. इन परीक्षाओं में हम बच्चों को अंक और ग्रेड नहीं दे पाएंगे. इसके बारे में भी मेरा एक सुझाव है.

बारहवीं कक्षा में हर छात्र एक पुस्तक लिखे. पुस्तक का नाम होगा, “स्कूल में मेरे अनुभव”. पुस्तक में स्कूल में उसने क्या सीखा, और स्कूल की शिक्षा में उसके लिया क्या अहम् था, उस ब्योरे का संक्षेप में वर्णन होगा. इसमें उस सारे ज्ञान का उल्लेख होंगे जिसे छात्र महत्वपूर्ण समझता है, और जिसे उसने स्कूल में सीखा है. इस पुस्तक में फोटोग्राफ्स, कवितायें और बाकी सबकुछ भी होगा जो बच्चा पुस्तक में लिखना चाहता है. यह उस बच्चे की बाइबिल या गीता होगी (धार्मिक अर्थों में नहीं). पुस्तक 100 पन्नों तक की हो सकती है. जीवन में वो आगे क्या करना चाहता है? किस पेशे को अपनाना चाहता है? छात्र पुस्तक में उनका भी उल्लेख कर सकता है. उस पेशे में उच्च शिक्षा के लिए वो खुद को क्यूँ उपयुक्त समझता है? बाद में वो अपनी ज़िन्दगी में क्या करना चाहेगा वो उसका भी ज़िक्र कर सकता है.

इस किताब के मूल्यांकन में काफी समय लगेगा. इसके लिए हमें दो CBSE स्थापित करने होंगे - पहला CBSE-1 और दूसरा CBSE-2. दोनों बोर्ड बारी-बारी से काम करेंगे. इससे हरेक बोर्ड को, बच्चों की “स्कूल में मेरे अनुभव” किताब के मूल्यांकन के लिए, पूरे एक साल का समय मिलेगा.

इससे बच्चों को एक साल की छुट्टी भी मिलेगी - इस “गैप-ईयर” की अवधारणा का उल्लेख मैंने एक अन्य अध्याय में किया है. छात्र के एक साल के छुट्टी में बोर्ड, उसकी पुस्तक का मूल्यांकन करेगा और फिर उसे अंक या ग्रेड देगा. बोर्ड कुछ निश्चित मापदंडों के आधार पर, छात्र की किसी विशेष व्यावसायिक उच्च शिक्षा संस्था में दाखिले की सिफारिश भी कर सकता है. उच्च शिक्षा की संस्थाएं CBSE बोर्ड की इन सिफारिशों को प्रवेश परीक्षा में 50-प्रतिशत महत्व दें.

इस प्रयोग में बच्चे बहुत कुछ सृजन कर पाएंगे. इससे बच्चों को बल मिलेगा और वो सोच-विचार के बाद खुद अपने निर्णय के अनुसार अपना पेशा चुन पाएंगे. एक रिपोर्ट के आधार पर छात्रों का मूल्यांकन करना कठिन नहीं है. वैसे यह कल्पनाशील लगे, पर अगर हम सचमुच चाहते हैं कि हमारे बच्चे एक अर्थपूर्ण जीवन जियें तो हमें ऐसे

विकल्प खोजने ही पड़ेंगे। अन्य पेशों की तुलना में भारतीय सेना इसके लिए पूरे छह दिनों का इंटरव्यू आयोजित करती है जिसमें मनोवैज्ञानिक, जिस्मानी, और शैक्षिक योग्यताओं पर ध्यान दिया जाता है। इसी प्रकार हमें भी स्कूली शिक्षा के मूल्यांकन के लिए कोई अर्थपूर्ण योजना खोजनी ही चाहिए। यह काम वाकई में करने योग्य है। वैसे देखने में यह काम असंभव लगे, पर कोशिश के बाद इसे करना संभव होगा। इस नयी मूल्यांकन प्रणाली पर विस्तार करने के लिए एक पूरी नयी किताब लिखनी होगी! पर अब समय आ गया है कि स्कूल तीसरी से आठवीं तक बच्चों के मूल्यांकन के लिए “प्रश्न-परीक्षा” की नयी प्रणाली का उपयोग करें। स्कूल तीसरी से आठवीं कक्षाओं को सुरक्षित समझा जाता है।

CCE (Comprehensive and Continuous Evaluation) मूल्यांकन प्रणाली में बच्चों को अलग-अलग तरीके से परीक्षा देने की छूट है। इसके लिए प्रश्न-परीक्षा के मूल्यांकन तरीके को भी अपनाया जा सकता है। वैसे यह तरीका कुछ अनूठा लग सकता है, पर हम कम-से-कम प्रायोगिक रूप में एक ऐसा परीक्षा-पत्र अवश्य बना सकते हैं जिसका अंतिम प्रश्न हो : इस विषय के उन प्रश्नों को जरूर लिखें जिन्हें आप सीखना चाहते हैं।

प्रोफेसर हरबंस मुखिया, जवाहरलाल यूनिवर्सिटी, नयी दिल्ली में मध्यकालीन इतिहास के विश्वविख्यात प्रोफेसर थे। वो अब रिटायर हो चुके हैं। परीक्षा में उनके प्रश्न-पत्र सबसे अनूठे होते थे। उनमें 6-7 सामान्य प्रश्न होते थे, पर अंत में जो लिखा होता था वो बिल्कुल अनूठा था : “अगर आपको ऊपर का कोई भी प्रश्न अच्छा न लगे, तो कृपा खुद अपने प्रश्न लिखें और उनका उत्तर दें。” हम में से कुछ लोगों ने ऐसा किया भी। प्रोफेसर मुखिया प्रश्न-पत्र बाँटने के बाद दो घंटों के लिए गायब हो जाते थे, और सत्र के अंत में केवल हमारी उत्तर कापियां इक्कट्टा करने के लिए ही आते थे।

स्थायी विकास के लिए शिक्षा

प्रिय प्रिंसिपल,

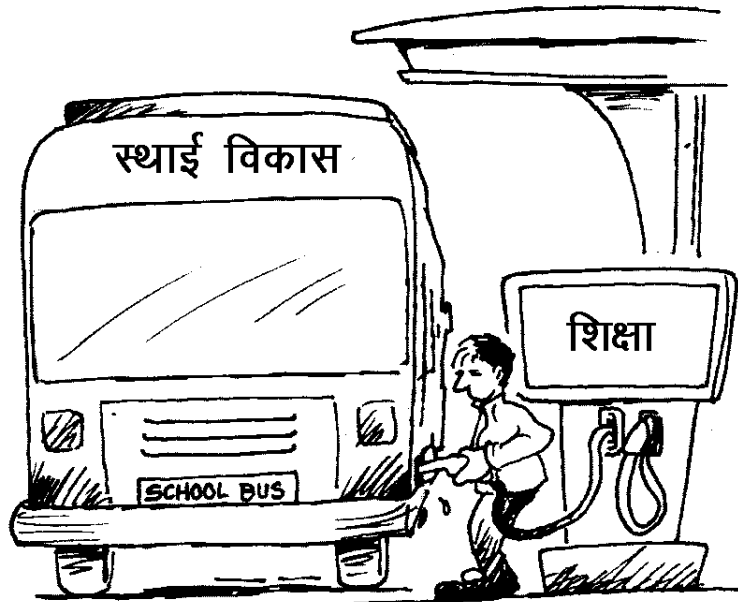
कई पीढ़ियों से मुख्य अतिथियों ने स्कूल समारोहों के अपने भाषणों में कहा है कि बच्चे ही देश का भविष्य हैं, और इस मायने में स्कूल भी देश के निर्माण कार्य में लगे हैं। यह महापुरुष बच्चों द्वारा देश में परिवर्तन लाने और उसे एक विकसित राष्ट्र बनाने की बात भी करते हैं।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान स्कूल के बच्चे ही देश का निर्माण करेंगे। क्या बच्चे देश को बदल पाएंगे या उसे एक विकसित राष्ट्र बना पाएंगे, इसमें मुझे शक है। इस शक के कई कारण हैं। हमारे स्कूल बच्चों को मुख्यता गणित, विज्ञान, इंग्लिश, हिंदी और सामाजिक अध्ययन पढ़ाते हैं। इनमें से दो विषय भाषा के हैं - जो सिखाने का माध्यम भी है। बाकी विषयों में से केवल गणित और विज्ञान को ही प्राथमिकता दी जाती है। सामाजिक अध्ययन को नागरिक-शास्त्र, भूगोल और इतिहास के बारे में सामान्य ज्ञान की जानकारी समझा जाता है।

अगर बच्चों को देश बदलना है तो न केवल उन्हें इन विषयों में काबिलियत हासिल करनी पड़ेगी, पर उन्हें राष्ट्र निर्माण के लिए उन विषयों के ज्ञान का इस्तेमाल भी करना पड़ेगा. पर इन विषयों का विकास से, दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है. इसलिए स्कूल काबिल गणितज्ञ और वैज्ञानिक (इंजिनियर ज्यादा उपयुक्त होगा) पैदा कर रहे हैं, पर देश की समस्याएँ सुलझाने वाले लोग नहीं रच रहे हैं. रोचक बात है कि सब लोग यह मानते हैं कि हमारे देश की समस्याओं की प्रकृति सामाजिक है, तकनीकी नहीं.

गणित और विज्ञान की पढ़ाई के बाद हमें अच्छी नौकरी मिलती है और हम एक उच्च-स्तर की ज़िन्दगी जी पाते हैं. आज माध्यम-वर्ग अच्छा जीवनयापन करता है. पर देश की स्थिति को कैसे बदला जाये इसके उन्हें कोई अंदाज़ नहीं है. बस वो देश में हो रहे भ्रष्टाचार को लेकर दुखी होते हैं, उसपर लेख और पुस्तकें लिखते हैं. उनकी उसमें क्या गलती है. स्कूल ने उन्हें सिर्फ उत्तर लिखना ही सिखाया है, और कुछ करना नहीं सिखाया है. ये लोग समस्याएँ नहीं सुलझा सकते. बड़े उद्योगों के मनेजर अपनी कम्पनियों के लक्ष्य तो पूरा करते पाते हैं पर देश की बुनियादी अपेक्षाओं - जैसे चुनाव में "वोटिंग" को नहीं पूरा कर पाते. मुख्य अतिथियों के भाषणों की तरह ही यह सिलसिला तब तक जारी रहेगा जब तक स्कूल बच्चों को, देश की समस्याओं के साथ नहीं जोड़ता है.

ज़्यादातर स्कूल जानबूझ कर बच्चों को देश की समस्याओं से दूर रखते हैं और उन्हें सिर्फ अच्छे और साफ़-सुथरे स्थान ही दिखाते हैं. स्कूल अपने बच्चों को, भारत की असलियत, देश की समस्याओं से नहीं जोड़ते हैं, और न ही उन्हें सुलझाने का कोई प्रयास करते हैं.



यहाँ पर स्थायी विकास के लिए शिक्षा ESD (Education for Sustainable Development) उपयोगी साबित होगी. कई लोग ESD को सिर्फ पर्यावरण शिक्षण का एक अच्छा तरीका मानते हैं, पर वो उसके सामाजिक और आर्थिक

आयामों को बिलकुल नज़रंदाज़ करते हैं. पर भारत जैसे विकासशील देश के आगे बढ़ने में ESD बहुत सहायक हो सकता है. स्थाई विकास की परिभाषा पर कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है पर स्कूलों को इतना तो ज़रूर करना चाहिए - बच्चों को देश की समस्याओं से जोड़ें. फिर बच्चे “स्थायी विकास” का अर्थ खुद समझ जायेंगे.

वर्तमान में यूनेस्को - स्थाई विकास के लिए शिक्षा का एक दशक मना रहा है. अगर ज्यादा से ज्यादा लोग इस अभियान में हिस्सा लें, तो कितना अच्छा हो? स्कूल के बच्चे उन समस्याओं को खोजें और पहचानें जिनपर वो काम करना चाहते हैं. यह समस्या खराब सड़क से लेकर भ्रष्टाचार तक कुछ भी हो सकती है. बच्चे इसके लिए अपना कोई मार्गदर्शक, गाइड चुनें और फिर उसके निदान का तरीका सोचें. वो सरकारी दफ्तरों के चक्कर लगायें और वहां के अफसरों से मिलें, और समस्या के हल के बारे में सोचें. स्कूल में रहते हुए भी वो देश की असलियत से परिचित हो सकते हैं. स्कूल से निकलने के बाद तो उन्हें इस असलियत को भुगतना ही पड़ेगा.

स्कूलों को बहुत सक्रिय रूप से बच्चों का सशक्तिकरण करना पड़ेगा जिससे वो देश की समस्याओं के हल खोज सकें. हर स्कूल में सबसे अधिक अंक पाने वाले छात्रों की एक सम्मान सूची होती है. उसी की तर्ज़ पर हमें उन छात्रों की सूची बनानी चाहिए जिन्होंने किसी सामाजिक समस्या को हल किया हो. इससे देश में कुछ ठोस बदल लेने वाले छात्रों को प्रतिष्ठा मिलेगी.

अगर आप गौर से देखें तो आप पाएंगे के देश में अधिकांश नागरिक खुद को बिलकुल असहाय महसूस करते हैं. हम बस समस्याओं की बातें भर करते हैं पर उनपर कोई “एक्शन” नहीं लेते. सच्चाई यह है कि हमारे शिक्षा-तंत्र ने, खासकर हमारे स्कूलों ने छात्रों को समस्याएँ सुलझाने की ट्रेनिंग ही नहीं दी है. स्कूल ने उन्हें सिर्फ बोलना और लिखना सिखाया है, और स्कूल यही काम करने में माहिर हैं.

दूसरी ओर ज़्यादातर वयस्कों को लगता है कि वो एक दुष्चक्र में फंसे हैं जिसमें कोई भी बदलाव लाना असंभव है. पर भाग्यवश छात्रों का मत इससे अलग होता है. अगर उन्हें समस्याओं से जूझने का मौका मिले तो वो बहुत कमाल के काम कर सकते हैं.

अगर हम स्थाई विकास के मुद्दे पर वापिस चर्चा करें तो उसके लिए हमारे पाठ्यक्रम में स्पष्ट होना चाहिए कि विज्ञान की सहायता से हम देश की समस्याओं का कैसे निदान कर सकते हैं. विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में देश के सभी आविष्कारों का उल्लेख होना चाहिए - साइकिल रिकक्षा में सुधार, आटा-चक्की, या फिर फेसबुक पर सामाजिक विकास के लिए शुरू करा कोई ब्लॉग. पाठ्यपुस्तकों में अगर इन नवाचारों का छोटे-छोटे “बॉक्स” में उल्लेख हो, तो अभी के लिए इतना काफी होगा. इसके लिए बाद में शिक्षाविदों से और चर्चा की जानी चाहिए.

मुझे एक वाकिया याद है. एक प्रांतीय विज्ञान प्रदर्शनी के लिए मुझे एक स्कूल में जाना पड़ा. प्रोफेसर यशपाल उस प्रदर्शनी के जज और मुख्य-अतिथि थे. जैसा अक्सर होता है, बहुत से बच्चों ने इलेक्ट्रॉनिक्स की किट्स खरीद कर उन्हें “अस्सेमबल” किया था. एक अन्य कमरे में दो बच्चों ने शौचालय को “फ्लश” करने की एक सरल जुगाड़ बनाई थी. उनके अनुसार लोग शौचालय इसलिए साफ़ नहीं करते हैं क्योंकि वहां फ्लश का हैंडल गन्दा होता है. इसलिए उन्होंने एक ऐसी जुगाड़ बनाई थी जहाँ लोग अपने पैर से एक लीवर को दबाकर फ्लश कर सकें. विज्ञान के तमाम

महंगे और चमकीले प्रोजेक्ट्स में मुझे वो सरल जुगाड़ बहुत अच्छी लगी. मेरी कामना थी कि काश उसे पहला पुरस्कार मिले. क्योंकि प्रोफेसर यशपाल वहां जजों के पैनल में थे इसलिए उस जुगाड़ को प्रथम पुरस्कार मिला भी. ऐसा होना भी चाहिए क्योंकि विज्ञान के सही उपयोग से ही देश आगे तरक्की करेगा. और हमारे देश को इसी प्रकार के समुचित विज्ञान की ज़रूरत है.

स्थाई विकास के लिए हमें इसी प्रकार की शिक्षा की ज़रूरत है. एक विकासशील देश होने के नाते हमें विज्ञान और सामाजिक विज्ञान दोनों में ESD (Education for Sustainable Development) का और अधिक पुट चाहिए. भविष्य में आगे बढ़ने की यही राह होगी.

भागीदारी वाला स्कूल

प्रिय प्रिंसिपल,

बहुत से शिक्षाविद और टीचर ट्रेनर “भागीदारी” की बात करते हैं. पर असल में वो छात्रों द्वारा कुछ गतिविधियों में हिस्सा लेने तक ही सीमित रह जाती है. कक्षा में सब मिलकर बहुत कुछ सीखते हैं पर उसमें टीचर की सीख बहुत कम बढ़ती है. बच्चों की तरह, सहभागिता से सीखना टीचर के लिए भी बहुत ज़रूरी है.

सहभागिता से सीखने के लिए सबसे पहले स्कूल की टीचर्स को एक-साथ बैठना पड़ेगा. ऐसा बहुत कम ही होता है. टीचर ट्रेनिंग के दौरान, ट्रेनर केवल अपने उद्देश्यों की पूर्ती के लिए ही टीचर्स को सहभागी होने के लिए कहता है. स्टाफ मीटिंग्स में सिर्फ रोज़मर्रा की व्यवस्था पर ही चर्चा होती है - जिसमें कार्य निर्धारण और जिम्मेदारियां शामिल होती हैं. मैं पहले ही प्रिंसिपल के कमरे में होने वाली बातचीत का जिक्र कर सकता हूँ. पर जब स्कूल के सब टीचर्स एक साथ मिलते हैं तो उनके बीच अधिकतर बातचीत प्रशासनिक और व्यवस्था के बारे में ही होती है.



शिक्षकों की इन बैठकों में “सीखने” पर चर्चा बहुत कम ही होती है. टीचर्स की मीटिंग्स “सहभागी” सीख के लिए सबसे उपयुक्त मौका हो सकती है. अगर स्कूल के सब शिक्षक मिलकर चर्चा करें कि गणित की पढ़ाई को कैसे रोचक बनाया जाये, तो कितना अच्छा हो? इसके लिए शिक्षक छोटे समूहों में बैठकर अपने विचारों पर चर्चा कर सकते हैं. टीचर ट्रेनर के सुझावों की तुलना में शिक्षकों के खुद के विचारों को अमल में लाना कहीं ज्यादा आसन होगा. इसका कारण है कि शिक्षा स्कूल का अभिन्न भाग हैं और वो ज़मीनी हकीकत को जानते हैं. अगर टीचर्स आपस में बैठ कर चर्चा करते हैं तो उनका सामूहिक अनुभव बहुत प्रभावशाली होगा और उनके द्वारा सुझाए नवाचारों को अमल में लाना काफी आसन होगा.

टीचर्स की मासिक मीटिंग्स आयोजित की जा सकती हैं, और हरेक मीटिंग में अलग-अलग विषयों पर नवाचार के मुद्दों को नोट किया जा सकता है. इससे मुख्य विषयों को बेहतर तरह से पढ़ने में बहुत मदद मिलेगी. अगर स्कूल के सभी शिक्षक मिलकर लाइब्रेरी को अधिक रोचक बनाने पर चर्चा करें तो कितना अच्छा हो? यह बात स्पष्ट है कि स्कूल में आर्ट-टीचर और गणित-टीचर का आपस में, कभी शैक्षिक संवाद नहीं होता है. आपस में बातचीत करके वो एक दूसरे की कमियां दिखा पाएंगे और बच्चों को बेहतर शिक्षण दे पाएंगे. आखिर पूरा स्कूल एक परिवार जैसा है और उसके सदस्य एक-दूसरे को सुझाव दे सकते हैं.

“सहभागिता” की इस पहल से स्कूल का माहौल ही बदल सकता है. और यह बदलाव इतना प्रत्यक्ष होगा कि उसे स्कूल में सभी देख पाएंगे और महसूस कर पाएंगे.

“सहभागिता” के मुद्दे को एक कदम और आगे ले जाया जा सकता है. देश के बच्चे मिलकर खुद तय करें कि वो क्या पढ़ना चाहते हैं और उसके आधार पर खुद अपना NCF यानि नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क तय करें? सामान्यता बच्चे क्या पढ़ेंगे, उसका निर्णय समाज में बड़े-बूढ़े करते हैं. कितना अच्छा हो अगर बच्चे खुद अपना पाठ्यक्रम तय करें? इसके लिए पांचवी कक्षा (जिन्होंने अपने समाज को कुछ देखा समझा है) और उससे बड़े बच्चे मिल बैठकर खुद अपना पाठ्यक्रम तय कर सकते हैं.

कुछ विशेष थीम्स तय की जा सकती हैं और उसके बाद यह अभ्यास देश के हरेक स्कूल में आयोजित किया जा सकता है. उसके बाद स्कूलों के समूह मिलकर एक प्रांतीय आयोजन कर सकते हैं और उसे विषय पर चर्चा को और आगे बढ़ा सकते हैं, और अंत इस पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित हो सकती है. इन संगोष्ठियों से निकली अंतिम 20-30 पन्नों की सिफारिशों को NCF के मुख्य घटक को विचार हेतु सौंपा जा सकता है. यह तरीका लोक से कुछ हट कर होगा, पर इससे कुछ रोचक बातें सामने आएँगी जिनसे NCF के दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन आएगा.

देश के कई हिस्सों में कुछ स्कूल बहुत नायब और प्रशंसनीय कार्य करते हैं. इन्हें “बेस्ट-प्रेक्टिसेज” बुलाया जाता है. मुझे तब बहुत दुःख होता है जब यह नवाचार सीमित रहते हैं और देश के बाकी हिस्सों में इनका प्रचार-प्रसार नहीं होता है. कई सरकारी और स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रयास अत्यंत सराहनीय हैं, पर बहुत कम ही लोग उनके बारे में जानते हैं. मान लें कोई विलक्षण टीचर “लाइब्रेरी” के अपने नवाचार को स्कूल में लागू करता है. पर अन्य स्कूलों में नहीं लागू होने पर, जल्द ही वो नवाचार उसी स्कूल में सिमट कर रह जायेगा.

सूचना और इन्टरनेट के इस युग में हमें एक ऐसी वेबसाइट की ज़रूरत है जो एक स्थान पर इन सभी नवाचारों को संग्रहित कर सके. एक ऐसी वेबसाइट जिसका नाम हो www.participatoryschool.org इस वेबसाइट का मुख्य पृष्ठ एक स्कूल का दो-आयामी नक्शा होगा - जहाँ से आप अन्दर प्रवेश कर सकेंगे. यह स्कूल की असली यात्रा होगी जिसमें आप स्कूल में गलियारों में घूम-फिर पाएंगे. आप स्कूल के किसी भी क्लास, प्रयोगशाला या लाइब्रेरी के अन्दर घुस पाएंगे. इस वेबसाइट का उपयोग कर, देश के तमाम शिक्षक अपने नवाचारों को एक-दूसरे के साथ साँझा कर सकेंगे. इसलिए अगर संभलपुर, ओड़ीशा के दूर-दराज़ गाँव का कोई लाइब्रेरियन अपने एक नए विचार को लोगों तक पहुँचाना चाहता है तो वो वेबसाइट पर जाकर “स्कूल” में प्रवेश करे, और लाइब्रेरी पर क्लिक करके अपने नवाचार को चिपका दे.

इन्टरनेट की उपलब्धता बढ़ने, और वेबसाइट की लोकप्रियता बढ़ने के साथ एकदिन यह वेबसाइट “सहभागिता” शोध का एक बहुत बड़ा भंडार और खज़ाना बन जायेगी. शिक्षक उस वेबसाइट पर जाकर अपने पसंदीदा “नवाचार” खोज पाएंगे और उनका क्रियान्वन अपने-अपने स्कूलों में कर पाएंगे. वेबसाइट कुछ-कुछ विकिपीडिया जैसे होगी पर उसका सन्दर्भ स्कूल और उसके मुद्दे होंगे. रोचक बात है कि छात्र भी इस वेबसाइट पर जाकर अपने “विचार” सबके साथ साँझा कर सकेंगे.

NCF को गढ़ने से पहले ही स्कूल के बच्चे एकजुट होकर स्कूल के प्रिंसिपल और टीचर्स को लाइब्रेरी, प्रयोगशाला और पढाई को अधिक रोचक बनाने के अपने विचार पेश करें. कई स्कूलों ने इस ओर कुछ पहल की है पर पूरी

तरह नहीं, क्योंकि अभी तक उन्होंने छात्रों के विचारों को गंभीरता से नहीं लिया है। जयपुर में दिगंतर स्कूल का छात्र संगठन सशक्त है - वो अपनी राय स्कूल को देता है। फिर स्कूल, छात्रों के विचारों को अमल में लाता है। शायद ऐसे उदाहरणों से हमें सीखने की ज़रूरत है।

वैसे शिक्षा शास्त्रियों और शिक्षा के विद्वानों ने शिक्षा पर मोटे ग्रन्थ लिखे हैं और शिक्षा में सुधार पर अनेकों भाषण दिए हैं। पर अब समय आ गया है शिक्षकों और छात्रों के विचार सुनने का और उन्हें आदर देने का। स्कूली समुदाय के विचारों को सुनने और उन्हें आदर देने से ही सहभागी स्कूलों को बढ़ावा मिलेगा।

मैं अपना एक व्यक्तिगत अनुभव पेश करूंगा जिससे स्पष्ट होगा कि हम शिक्षकों के विचारों को बिल्कुल नज़रंदाज़ करते हैं - उन्हें कुछ महत्व नहीं देते हैं। मैं एक टीचर ट्रेनर भी हूँ। आजकल टीचर ट्रेनिंग में शिक्षकों को बीच-बीच में बोलने, अपनी बात रखने का मौका दिया जाता है, पर एक शर्त के साथ। जो शिक्षक कहे वो ट्रेनिंग के उद्देश्यों के अनुकूल हो। इसलिए अगर ट्रेनिंग, उच्च-दर्ज की सोच कुशलताओं के बारे में हो, तो शिक्षक केवल उसी विषय पर अपनी राय पेश कर सकता है। शिक्षक के विचार सुनने के बाद ट्रेनर उसपर कुछ टिपण्णी करेगा। बाकी समय ट्रेनिंग शिक्षा के बुनियादी सिद्धांतों पर भाषण देगा, जिसमें किसी शिक्षक की रुचि नहीं होगी।

कुछ ट्रेनिंग सत्रों में मैंने एक नयी शुरुआत की - “हॉट सीट” की। जब शिक्षक इस “हॉट सीट” पर होगा तो वो अपनी व्यक्तिगत ज़िन्दगी का कोई ऐसा अनुभव, या कहानी सुनाएगा - जिसका शिक्षा से सम्बन्ध हो। यह अनुभव अन्य शिक्षकों ने पहले नहीं सुना होगा। अब “हॉट सीट” वाला शिक्षक केंद्र में होगा। वो चर्चा को आगे बढ़ाएगा जिसमें ट्रेनर और बाकी शिक्षक शामिल होंगे।

ऐसा लगता है कि कक्षा के अलावा, स्कूल ने शिक्षक को, अपने अनुभव और विचार साँझा करना का और कोई मंच प्रदान नहीं किया है। शिक्षकों ने जो अपने आत्मअनुभव और कहानियां सुनाईं वे बहुत रोचक थीं और उनसे ट्रेनिंग की गुणवत्ता बढ़ी। उसके बाद मैंने हरेक ट्रेनिंग में इस तकनीक का उपयोग किया। मज़े की बात यह थी कि हरेक ट्रेनिंग में शिक्षकों ने अपने जीवन के अनमोल अनुभव सुनाये। धीरे-धीरे यह तकनीक मेरी हर ट्रेनिंग का हिस्सा बनी। अंत में मुझे लगा - देखो शिक्षकों का कितना गहरा और संपन्न अनुभव है, पर उन्हें कोई भी सुनने को तैयार नहीं है।

अब वक्त आ गया है कि प्रिंसिपल अपने शिक्षकों को सुने। वैसे प्रिंसिपल, स्कूल का लीडर है और उसपर स्कूल की पूरी ज़िम्मेदारी है, पर अब ज़रूरत इस बात की है कि इस ज़िम्मेदारी को “सहभागी” और सामूहिक बनाया जाये।

अभिस्वीकृति

मैं बहुत समय से एक किताब लिखने की सोच रहा था. पिताजी ने मुझे प्रेरित किया, उन्होंने कहा - तुम्हारे दादाजी श्री बी. आर. मुसाफिर ने परिवार में, किताबें लिखने की परंपरा शुरू की थी, तुम उसे कायम रखो. दादाजी ने ही हमें “मुसाफिर” नाम का अजीबो-गरीब उपनाम भी दिया था. “मुसाफिर” दादाजी का तखल्लुस था.

मेरी पत्नी बीआस, पुस्तकें पढ़ने की बहुत शौकीन हैं. उन्होंने बहुत लगन से पुस्तक के सभी अध्यायों को पढ़ा. इस पुस्तक को पढ़ने वाली वो पहली व्यक्ति थीं. उनका बहुत धन्यवाद.

मेरी माँ ने अपने स्कूल के किस्से मुझे सुनाये. मेरे भाई संदीप ने कई अन्य लेखकों से मेरा संपर्क कराया. बीआस की माँ ने पुस्तक के पहले अध्याय पढ़े.

मेरी मित्र दीपाली जैन और पूर्व बॉस सुमिता द्वारा, कुछ अध्यायों पर अपनी प्रतिक्रिया देने के लिए विशेष आभार.

मेरे मित्र ओसामा जैद रहमान और रामचंद्रन दोनों प्रकाशन के क्षेत्र में हैं. उन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में मेरी मदद की.

मेरे ऑफिस के साथी - अमिता बम्बावाले, आँचल और झरना डे का भी मैं आभारी हूँ. वे भी इस किताब को लेकर मेरे जितनी ही उत्साहित थीं.

“प्रवाह” को मैं कैसे भूल सकता हूँ. इस संस्थान से ही मैंने अपनी शिक्षा की असली यात्रा शुरू की. मित्र श्रीराम नाथन ने मुझे शिक्षा पर पहला प्रवचन दिया. क्या वहीं से मेरी यात्रा शुरू हुई?

अंत में रुस्तम वानिया का शुक्रिया, जिन्होंने अपने सजीव चित्रों से पुस्तक तो जीवन बक्शा.

लेखक के बारे में

शंकर मुसाफिर ने हिमाचल प्रदेश यूनिवर्सिटी, शिमला से स्नातक की डिग्री हासिल की. उसके बाद उन्होंने जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी, नयी दिल्ली से इतिहास में MA और M.Phil किया. वर्तमान में वो स्कूली शिक्षा से जुड़े हैं और *इंडस वर्ल्ड स्कूल्स* समूह के साथ काम करते हैं.

शंकर ने *मिलेनियम एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट प्रोग्राम* (MESDEP) का सूत्रपात किया. इस कार्यक्रम में बच्चे, शिक्षा के साथ-साथ, विकास के मुद्दों पर प्रोजेक्ट्स करते हैं. उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रशंसा पाने वाला कार्यक्रम “*कबाड़ीवाला*” भी शुरू किया, जिसके लिए एक कबाड़ीवाले को स्कूल में मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया. वे एक अभिनव टीचर ट्रेनर हैं और उन्होंने देश-विदेश में 5000 से अधिक शिक्षकों को प्रशिक्षित किया

हैं. वो शिक्षा और पर्यावरण के मुद्दों पर लिखते हैं, वो एक उत्साही “ब्लॉगर”, शौकिया फिल्मकार, ट्रेकर और बावर्ची भी हैं.

यह शंकर की पहली पुस्तक है. उनका पूरा विश्वास है कि स्कूल, कॉलेज और यूनिवर्सिटी में उन्होंने जो भी पढ़ा उसका पांच प्रतिशत भी अब उन्हें याद नहीं है. उनकी औपचारिक शिक्षा उनके पेशे में बिल्कुल काम नहीं आई. जो कुछ भी उन्होंने सीखा है वो अपनी व्यक्तिगत रुचि और अनुभवों से सीखा है. इस अहसास की बुनियाद ही उनके काम का आधार है - चाहें वो सृजनात्मक या व्यावहारिक शिक्षा हो, और चाहें वो बच्चों और शिक्षकों की ट्रेनिंग हो.

शंकर मुसाफिर को इस पते पर लिखा जा सकता है : smusafir@gmail.com